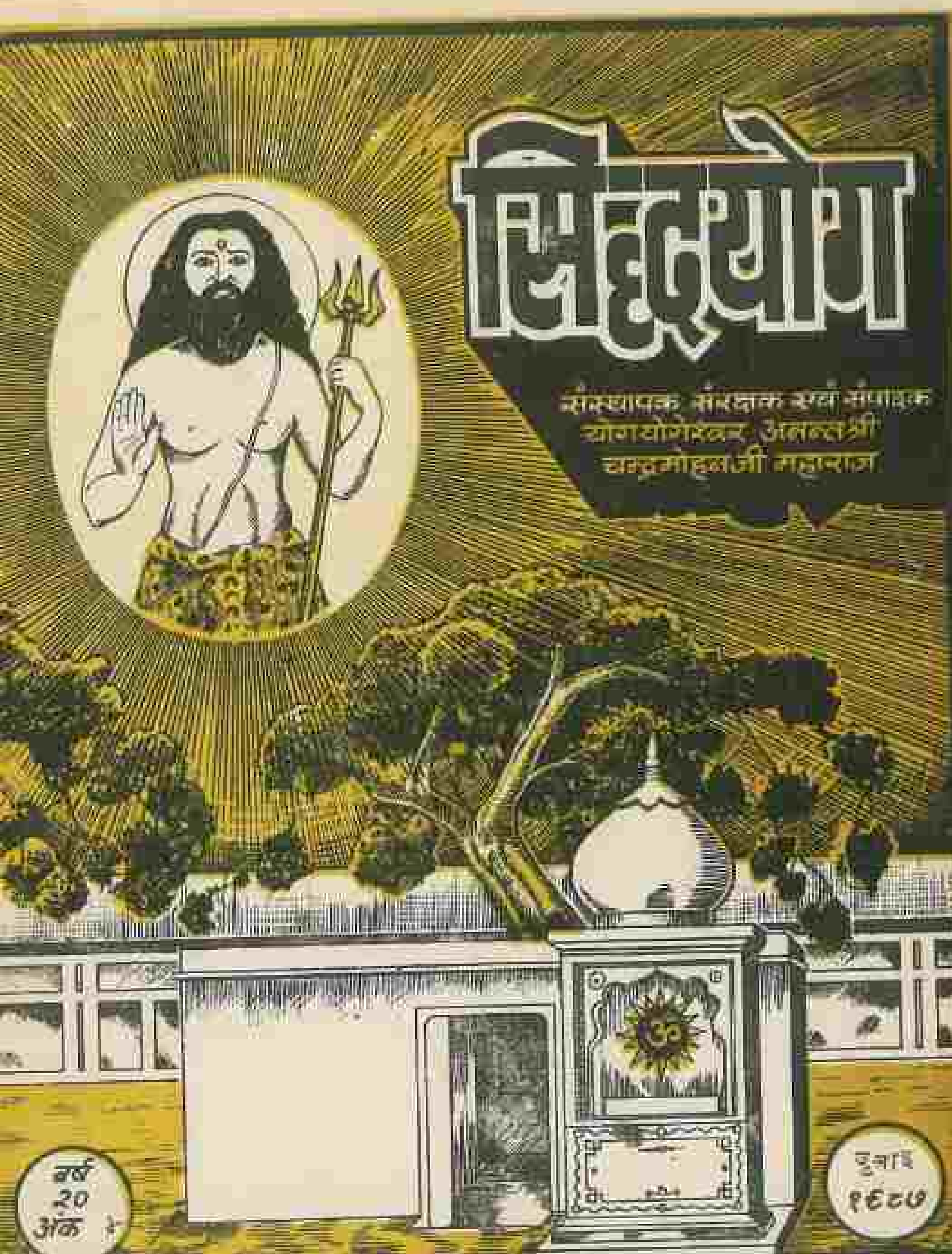
सिद्धयोग
संस्थापक संरक्षक एवं संचालक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज
वर्ष
२०
अंक
जुलाई
१९८७
श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
[illegible]

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जुलाई
१९८७

❀ [illegible] (प्रार्थना) १

❀ [illegible] (विशेष लेख) २
योगिराज [illegible] अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

❀ [illegible] श्री माता की महिमा
श्री [illegible] ओमप्रकाश

❀ [illegible] महत्ता
श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

❀ दिव्य चक्षु १२
श्री [illegible]

❀ मन ही साधन है १३
श्री चक्रपाणि

❀ तीन पवित्र अद्वैतवादी १५
श्री जे० कृष्णमूर्ति

❀ अवतार-कल्पना १९
श्री [illegible] गुरु

❀ श्री गुरु-कृपा की धारा २४
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

❀ अन्तर्जगत की यात्रा ध्यान २६
श्रीमती सरिता भारद्वाज

❀ [illegible] ३६

❀ योग क्या है ३८
डा० श्रीमती [illegible]

❀ वैष्णव-भक्त पर कृपा ४२
श्री केशव उपाध्याय

❀ कुछ बात ४५
श्री पं० कृष्णकुमार पांडेय

वार्षिक मूल्य ३० रुपया । इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, कराई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २०
अङ्क ४

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

जुलाई
१९८७

❀ मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ❀

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

—अथर्व० १९/७१/१

भावार्थ

हे वरदा वेदमाता! तू द्विजों को पवित्र करने वाली है। मुझे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण (धन) और ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति कराइये ताकि इसके द्वारा मैं इह-लोक और परलोक में निःश्रेयस तथा अमरत्व के पद को वरण कर सकूं।

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त
श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति के लिए ध्यान की गहराई में उतरना जितना आवश्य होता है उससे भी अधिक आवश्यक होता है धारणा और ध्यान की गहराई में प्रवेश पाने के लिए 'उत्तिष्ठत जाग्रत और प्राप्य वरान्निबोधत' के मंगलमय सूत्र को सदा स्मृतिपटल पर बनाये रखना। श्री गुरुदेवजी ने कठोपनिषद् के ऋषि के इसी मंगल सूत्र पर अपने विचार योग-जिज्ञासुओं के हितार्थ इस लेख में व्यक्त करने की कृपा की है।

—सं० सं०

उत्तिष्ठत, जाग्रत-प्राप्य वरान्निबोधत

कठोपनिषद् के ऋषि का यह उपदेश, जिसे हम अपने इस विशेष लेख का शीर्षक बना रहे हैं, बड़ा ही सारपूर्ण और कल्याणकर है। ऋषि कहता है कि जीवन यात्रा का पथ बड़ा दुरूह है और बड़ी मुश्किलों से पार किये जाने वाला है। मनीषियों का कहना है कि यह छुरे की धार के समान अत्यन्त नुकीला और पैना है। यदि चलने वाला सावधानी के साथ जागरूक रहते हुए, इस पर चलने की कला नहीं जानता है तो निश्चय ही वह अपनी मञ्जिल को संतोषजनक ढंग से सुखकर रूप में पार नहीं कर सकता। प्रतिकूल इसके जो सदा जागरूक सावधान तत्पर और परमात्मपरायण बने रहते हैं या जो श्रेष्ठ गुरुओं से मार्ग-दर्शन ग्रहण किया करते हैं, वे बिना किसी बाधा के यात्रा के उस बिन्दु तक आ पहुंचते हैं, जहां तक पहुंचने का संकल्प लेकर उन्होंने अपनी यात्रा का प्रारम्भ किया था।

ऋषि का इस सम्बन्ध में दिया गया यह परामर्श बड़ा ही उपयोगी है। सुनिये इसे ऋषि के अपने ही शब्दों में—

उत्तिष्ठत जाग्रत,
प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

—कठोपनिषद् १/३/१४

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवनपथ उसके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार विविध प्रकार की दुरूहताओं से भरा हुआ रहता है। अनेक प्रकार के अभाव अवरोधों और आपदाओं से होकर उसे गुजरना पड़ता है। सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि के द्वन्द्व प्रायः हर क्षण उसके सामने आया करते हैं। इन सबको

एक ओर हटाकर ध्येय पथ पर बढ़े चलना उन्हीं के लिए सम्भव हो पाता है, जो 'उत्तिष्ठत, जाग्रत और प्राप्य वरान्निबोधत' सूत्र के अनुसार चलते रहने का निश्चय कर लेते हैं। असावधान और प्रमादी दशा में पड़े रहने वाले, आसमान के तारे तोड़ लाने की बातें भले ही करते रहें, किन्तु मंजिल पर आगे बढ़ने का साहस वे कभी नहीं कर सकते क्योंकि ऐसे लोगों को ही जीवन-यात्रा का पथ तीव्रतम छुरे की धारके समान चुभीला प्रतीत होता है और अन्ततः वे इसे दुरत्यया (कठिनाई से पार होने वाला) बताकर उस पर चलना ही छोड़ देते हैं।

कठोपनिषद् के ऋषि ने अपने इस उपरोक्त मंत्र में यह परामर्श भी उचित ही दिया है कि तत्पर और सावधान रहने पर भी जीवन-यात्रा में प्रारब्धवश अगर कुछ बाधाओं और दुरूहताओं के पर्वत आकर खड़े हो जाँय और यात्री को आगे बढ़ने ही न दें; तब ऐसी दशा में उचित यही रहता है कि जीवन-यात्रा का जागरूक यात्री आई हुई कठिनाइयों और दुरूहताओं को हटाने के लिए श्रेष्ठ, उत्तम और सदाचारी मनीषियों से अथवा अपने गुरुदेव से परामर्श प्राप्त करके उसके प्रकाश में अपना आगे का मार्ग तय करे। यदि वह ऐसा करेगा तो निश्चय ही वह अपने अन्तर में ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेगा, जिससे उसके मार्ग में आई बाधाओं के बादल देखते ही देखते विलीन हो जायेंगे। अपने गुरुदेव अथवा श्रेष्ठ पुरुषों का परामर्श अवश्य ही उसके मार्ग-दर्शन में सहायक हो जावेगा। वे लोग जो अपने सद्गुरुओं और मनीषियों का समय-समय पर परामर्श लेते रहते हैं, निश्चित रूपसे कठिनाइयों में नहीं पड़ाकरते। यदि पड़ भी जाते हैं तो सहजता से उनसे छुटकारा पा जाने का अवसर पा लेते हैं।

योगी जीवन व्यतीत करने वाले साधकों को तो किसी दशा में भी ऐसे परामर्श की, जागरूकता और सावधानता की वृत्ति की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। लोक में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि—

> जो सोवत है सो खोवत है।
> जो जागत है सो पावत है॥

प्रमादके वश होकर सोने वाले या निष्क्रिय जीवन बिताने वाले व्यक्ति न तो इहलौकिक सुख-सुविधाओं का वरण कर पाते हैं और न पारलौकिक जीवन के आनन्द को ही प्राप्तकर पाते हैं। इसलिए उपनिषद् के ऋषिके 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत' जैसे आदर्श वाक्य को सदा सामने रखकर योग-पथ के साधकों को अपनी साधनाका मार्ग तय करते रहना चाहिए।

धारणा, ध्यान और समाधि का अनिर्वचनीय लाभ भी वे ही उठा पाते हैं जो जागरूक एवं तत्पर बने रहने की वृत्ति का आश्रय लिये रहते हैं और जो सद्गुरु में या उनके आदेशों के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हैं।

'उत्तिष्ठत, जाग्रत और प्राप्य वरान्निबोधत' यह तीन शब्दों का ऐसा मंगल सूत्र है, जिसका आलम्बन लेकर कोई भी मनुष्य अपनी आंतरिक शक्ति का जिसे कुण्डलिनी के नाम से

मात्रातीत वृद्धि कर
ह शक्ति क्या है ?
शरीर शास्त्रों में कुछ

आंख में सूर्य-शक्ति है, मुख में आग्नेय-शक्ति है, नाक में अश्विनी-शक्ति है, हृदय में इन्द्र-शक्ति है, फेफड़ों में रौद्र-शक्ति है, यहाँ मारुति शक्ति है। उसी प्रकार हरएक अवयव में एक-एक देवता की शक्ति बीजरूप अथवा अंशरूप है। जिस प्रकार आग का एक स्फुलिंग होता है, उसी प्रकार सूर्यादि विशाल देवताओं की एक-एक चिनगारी हमारे देह में अपने योग्य स्थान में रहती है। इस चिनगारी को प्रदीप्त करना ही उस शक्ति का विकास करना है। इसमें जागरूकता और तत्परता की बड़ी आवश्यकता रहती है।

यहाँ यह कह देना भी प्रसंगगत ही होगा कि भूतजय और विभूति पाद में वर्णित योग सिद्धियों की उपलब्धि भी आन्तरिक शक्ति के विकासपर ही आधारित रहती है। और आन्तरिक शक्तियों का असीम विकास वे साधक ही कर पाते हैं जो 'उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' के सूत्र को हृदयगंम करने का दृढ़ निश्चय लेकर अपने साधना-पथ पर आगे बढ़ते रहते हैं।

❀ बचिए दस पापों से ❀

पाप वे कर्म हैं जिनके करने से दुःख होता है, और दुःख कोई नहीं चाहता, अतः आइये, विचारें कि दुःख का मूल पाप है क्या, और कैसे हो जाता है तथा उससे बचा किस तरह जावे ?

पाप साधारणतया दस प्रकार के हैं जो इच्छा या अनिच्छा से मनसा, वाचा, कर्मणा किये जाते हैं। इनके विषय में न्यायभाष्य (१।१।२) में वात्स्यायन मुनिजी ने लिखा है:—

"शरीरेण प्रवर्त्तमानः हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनासंबद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति, सेयं प्रवृत्तिरधर्माय"।

अर्थात्—शरीर से प्रवृत्त होता हुआ मनुष्य हिंसा, चोरी और निषिद्ध मैथुन करता है। वाणी से मिथ्या, कठोर वचन, चुगली और असंबद्ध प्रलाप होते हैं। मन से दूसरों से द्रोह, दूसरों के धन हरण करने की इच्छा और नास्तिकता की जाती है। यह प्रवृत्ति ही अधर्म या पाप का हेतु होती है।

भावार्थ—दूसरों से धोखा धड़ी का विचार, पराई वस्तु की चाहना और किसी से पूरी न हो सकने वाली इच्छा की आशा करना, ये तीन मनसा (मन द्वारा) होने वाले पाप हैं। झूठ, अप्रिय वचन परनिन्दा और प्रस्तुत विषय से अतिरिक्त वार्ता, ये चार पाप वाचा (वाणी द्वारा) होते हैं। किसी को कष्ट पहुँचाना, पराई वस्तु स्वामी की बिना आज्ञा ले लेना, और विवर्जित भोग भोगना, ये तीन पाप कर्मणा (शरीर द्वारा) किए जाते हैं।

—श्रुतिसार

❀ मंगलमयी गौ-माता की महिमा ❀

❀ ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों के साधन का मूल सर्वदेवमयी गौ-माता ही है। हिन्दुस्तान में तीन माताएँ मानी गई हैं, उनमें से प्रथम स्थान गौ-माता का है, द्वितीय भू-माता अर्थात् पृथ्वी माता और तीसरा गङ्गा माता का है। ये तीनों मातायें हिन्दुस्तान के लोगों को पोषती हैं—गौ-माता दूध पिलाकर पोषती है। गाय का बछड़ा बैल बनकर पृथ्वी मां को फोड़कर अन्न पैदा करता है, भू-माता और गंगा-माता अपने जल से फसल खड़ी करती हैं।

वेद, शास्त्र, पुराण और साधु-सन्तोंने इस गऊ देवता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। हिन्दू धर्म का तो सौभाग्य और वैभव गौ-माता ही है। हम लौकिक दृष्टि से देखें, चाहे अलौकिक दृष्टिसे, उभय दृष्टिसे ही गौ-माता प्रशंसनीय है। गौ के आधिदैविक स्वरूप पर शास्त्र दृष्टि से विचार किया जाय तो पता लगता है कि उसके प्रत्यंग में, किंबहुना रोम-रोम में देवताओं का निवास-स्थान है। इसीलिए कहा गया है—

सर्व देवमयी देवि सर्व देवैरलंकृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दनि॥

गौ शास्त्रदृष्ट्या पशु नहीं है। शास्त्र में लिखा है—'तिर्य न धान्यं पशवो न गाव।' गौ की पीठ में ब्रह्मा वास करते हैं, गले में विष्णु, मुख में रुद्र, पेट में सब देवता और रोम-रोम में महर्षिगण। गाय के मूत्र में धन्वन्तरि भगवान का वास है तथा गोबर में कुबेर, लक्ष्मीजी निवास करते हैं। सर्वदेवमयी गौ के विषय में ऋग्वेद में कहा है—"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽदित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोच चिकितुषे जनाय मा गाय-मानागामदितिं वधिष्ट॥" अर्थात् (गौ) दश, और आत्मा इन ११ रुद्रों की (माता) जननी है। पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यौ, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र इन आठ वसुओं की दोहन करने वाली पुत्री है। (आदित्यानां) द्वादश मासात्मा विष्णु भगवान की सहोदर भगिनी है। (अमृतस्य) जीवमात्र को जीवित रखने वाली जीवनी-शक्ति (ऑक्सीजन विटा-मिन-ए) का केन्द्र है। गाय के प्रति मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? ऐसा विचार करते हुए मनुष्यके प्रति भगवान आज्ञा देते हैं। अपराध रहित अवध्य गाय को मत मारो।

इसके अतिरिक्त शास्त्रों में गौ-महिमा के विषय में—'गावः प्रतिष्ठा गावः स्वस्त्ययनं महत्। गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी। अर्थात् गौ मनुष्यों के जीवन का अवलम्ब है, गौ कल्याण का परम निधान है, पहले के लोगों का ऐश्वर्य गौ पर अवलम्बित था, आगे की उन्नति भी गौ पर अवलम्बित है। गौ ही सब समय पुष्टि का साधन है।

इस तरह गौ मङ्गल का परम निधान है यथा—'गावः स्वस्त्ययनं महत्' गाय सर्वसुख प्रदान करने वाली सम्पूर्ण भूतों की माँ है—'मातरः सर्व भूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः। इतना ही नहीं, शास्त्र और भी कहता है—

गोर्मेमाता ऋषभः पिता मे दिवंशर्म जगती मे प्रतिष्ठा। (ऋग्वेद) अर्थात् गाय हमारी माता साँड़ हमारे पिता। ये दोनों हमें स्वर्ग और ऐहिक सुख प्रदान करें।

भगवान श्रीकृष्ण का अवतार गाय और ब्राह्मण के हिताय हुआ—'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च। जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः। गाय का संरक्षण और संवर्द्धन करनेके लिए हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण गौ, ब्राह्मण प्रतिपालक हैं। गौ और ब्राह्मण एक ही हैं—'ब्राह्मणानां गवां चैव कुलमेकं द्विधा स्थितम्। एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हवि-रेकत्र संस्थितम्॥ अर्थात् ब्राह्मण और गायों का एक ही कुल है, केवल दो भागों में स्थित है। एक भाग में मन्त्र है और दूसरे में यज्ञ ग हवि प्रतिष्ठित है। देवताओं को तृप्त करने के दो ही साधन हैं—(१) ब्राह्मण का मुख (इसीलिए लौकिक अथवा पारलौकिक कार्य सम्पन्न होने के बाद ब्रह्मभोज कराया जाता है)। तथा (२) यज्ञ में अग्निकुण्ड में डाली गई हवि सामग्री।

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गोपनन्द बाबा के यहाँ गोकुल में अवतार लिया। उन्होंने स्वयं वन-वन गाय चराईं और गौओंकी पूजा स्वयं की तथा कराई। श्रीकृष्ण भगवान् को गाय इतनी प्यारी थीं कि उसी आधार पर उनका नाम गोपाल, गोविन्द पड़ा। मनुष्य की बुद्धि पर भी पशु है, इस पर्दे को हटाकर गौ का दिव्य माँ का रूप दर्शाया। जिसे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ने स्वयं पूजा हो, वह कितना महत्त्वपूर्ण होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त गाय का बछड़ा शिववाहन नन्दी के वंशज के रूपमें वृषभ को पूज्य मानते हैं। शंकर भगवान् के साथ ही नन्दीश्वर की भी पूजा होती है। इन दोनों ही पूर्णब्रह्म (कृष्ण व शंकर) ने गाय और बछड़े का महत्त्व स्वयं इनसे सम्बन्ध बनाकर दुनिया को इनके महत्व को जताया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायणमें बताया है कि 'गोद्विज देवधेनु हितकारी' प्रभु के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में प्रकट होने के प्रमुख कारणों में एक 'गोहित' भी था—'विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।' अतः आपके अवतार लेने योग्य वंश महाराज दिलीप का ही था, जिन्होंने नन्दिनी की परि-चर्या और आराधना कर सच्चा गौभक्त कह-लाने का गौरव प्राप्त किया। परम्परागत धर्म के अनुयायी दिलीप वंशियों में गौ-भक्ति का होना स्वाभाविक था। अतएव महाराज दशरथ में गौ-सेवा की भावना का अस्तित्व कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही कारण था कि जहाँ महाराज दशरथ के महलमें सारे बहुमूल्य पदार्थों के साथ-साथ अमूल्य गौयें भी थीं। कहना न होगा कि श्रीराम का बाल्य-जीवन गौओं और गौ-वत्सों के साथ संसर्ग में बीता।

गाय मानवीय जगत के लिए ईश्वर की बड़ी देन है। धार्मिक, आर्थिक, सांसारिकएवं आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे गाय हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी है। पुराणों में लिखा है कि

जगत् में सर्व प्रथम वेद, अग्नि, गौ एवं ब्राह्मणों की सृष्टि हुई थी। वेद हमारे ज्ञान के आदि स्रोत हैं, वे हमें देवताओं को प्रसन्न करने की विद्या-यज्ञानुष्ठान का पाठ पढ़ाते हैं। गीता में कहा है—"प्रजापति ब्रह्माजी ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो जाओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो। तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगोंको उन्नत करें।" इस प्रकार इस यज्ञ-चक्र को चलानेके लिए वेद, अग्नि, गौ एवं ब्राह्मणों की सृष्टि हुई है। वेदों में यज्ञानुष्ठान की विधि बताई गई है—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' एवं ब्राह्मणों के द्वारा वह विधि सम्पन्न होती है। अग्नि के द्वारा आहुतियाँ देवताओं को पहुंचाई जाती है—'अग्निमुखा हि देवा भवन्ति' और गौ से हमें देवताओं को अर्पण करने योग्य हवि प्राप्त होता है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में गौ को 'हविर्दुघा' (हवि देने वाली) कहा गया है। गौ-घृत देवताओं का परम प्रिय हवि है और यज्ञ के लिए भूमि को जोतकर तैयार करने एवं गेहूँ, चावल, जौ, तिल आदि हविष्यान्न पैदा करने के लिए गौ संतति बैलों की परम आवश्यकता है। यही नहीं, यज्ञ-भूमिको परिष्कृत एवं शुद्ध करने के लिए उसे गौ-मूत्र से छिड़का जाता है और गोबर से लीपा जाता है तथा गोबरके कण्डोंसे यज्ञाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। यज्ञानुष्ठान के पूर्व प्रत्येक यजमान को देह-शुद्धि के लिए पञ्चगव्य का प्राशन करना होता है और यह गाय के दूध, दही, घी, मूत्र एवं गोबर से से तैयार किया जाता है, इसीलिए इसे 'पञ्च-गव्य' कहते हैं। गौ-दुग्ध अमृत के समान गुण-कारी एवं पोषक आहार है। गौ-दुग्ध वात नाशक है। गौ का दही नवनीत बच्चों के लिए तो सर्वाधिक हितकारी है। गौ का मट्ठा भी गुणोंमें महामहिम है और गाय का घी तो हमारे यहाँ सर्वश्रेष्ठ रसायन माना गया है—'आयुर्वै घृतम्' गौ-घृत अन्धा होनेसे बचाता है। मन्दाग्नि का नाशक है, मेधा, लावण्य, कान्ति, ओज और तेज को बढ़ाने वाला है। गाय के गोबर को सारे शरीर पर मलकर धूप में बैठने से खाज, खुजली आदि त्वचा रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार गौ-का विधिवत् सेवन करने से शरीर की बढ़ी हुई उष्णता और उदर के कृमि नष्ट हो जाते हैं। यकृत एवं प्लीहाकी वृद्धि दूर हो जाती है और वे अवयव चैतन्य हो जाते हैं। गौ-मूत्र की महिमा कहाँ तक की जाय, जो रोग किसी भी दवा से ठीक न होता हो वह गौ-मूत्र पीने से ठीक हो जाते हैं। इसके लिए काली गाय की बछिया का मूत्र जो जङ्गल में चरती हो, ज्यादा लाभप्रद माना गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी गाय का महत्त्व कम नहीं है। गाय के दर्शन एवं स्पर्श से पवित्रता आती है, पापों का नाश होता है। प्रातःकाल बछड़े सहित गाय का दर्शन तथा उसका दाहिने हाथ की ओर जाना अत्यन्त

माङ्गलिक और शुभ शकुन है। गाय के शरीर में तेतीस करोड़ देवताओं का निवास माना गया है। गाय के खुरों से उड़ने वाली धूलि भी अति पवित्र मानी गई है। महाभारत में महर्षि च्यवन राजा नहुष से कहते हैं—"मैं इस संसार में गौओं के समान दूसरा कोई धन नहीं समझता। गौओं के नाम और गुणों का कीर्तन करना श्रेष्ठ है, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करना इनकी शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा की गई है। ये सब कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याण देने वाले हैं। गौ लक्ष्मी की जड़ है, उनमें पाप का लेश भी नहीं है। गौएँ ही मनुष्य को और देवताओं को हविष्य देने वाली हैं। स्वाहा और वषट्कार सदा गौओं में ही प्रतिष्ठित होते हैं। गौएँ ही यज्ञ का संचालन करने वाली और उसका मुख हैं। वे विकार रहित दिव्य अमृत धारण करती और दुहने पर अमृत ही देती हैं। वे अमृत का आधार होती है और सारा संसार उनके सामने नत-मस्तक झुकाता है। इस पृथ्वी पर गौएँ अपने तेज और शरीर में अग्निके समान हैं। वे महान् तेज की राशि और समस्त प्राणियों को सुख देने वाली हैं। गौओं का समुदाय जहाँ निर्भयतापूर्वक बैठकर सांस लेता है, उस स्थान की श्री बढ़ जाती है और वहाँ का सारा पाप नष्ट हो जाता है। गौयें स्वर्ग की सीढ़ी हैं, वे स्वर्ग में भी पूजी जाती हैं। गौयें समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली देवियाँ हैं, उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है।"

निर्धन, सन्तानहीन तथा रोगी व्यक्ति यदि गउ सेवा करे और उनको अपनी सेवा से प्रसन्न रखे, तो निर्धन धनी, पुत्रहीन पुत्रवान् व रोगी निरोग हो जाता है। गौ-सेवा का महान् पुण्य है। गऊशालामें नित्य दीपक जलाने से तथा स्वयं भोजन करने से पूर्व गौ-ग्रास देने का भी महान् पुण्य होता है। पञ्चगव्य-प्राशन से अस्थि और चर्म में जो पाप वर्तमान हैं वे वैसे ही भस्म हो जाते हैं, जैसे अग्नि से ईंधन—

यत् त्वगस्थिगतं पापं,
देहे तिष्ठति मामकं।
प्राशनं पञ्चगव्यस्य,
दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

केवल गाय का दूध ही महारोगों की अक्सीर दवा है। गाय का गोबर सारी दुर्गन्ध को दूर करता है और रोग-कीटाणुओं का नाश करता है। मनुष्य यदि गौ-माता को प्रत्यक्ष लक्ष्मी मानकर श्रद्धा और विश्वास के साथ उसका पूजन-सत्कार, सेवा करे तो उसके समस्त पाप-ताप, शोक-संताप दूर हो जाएँ तथा समस्त अमङ्गलों का नाश होकर मङ्गल ही मङ्गल हो जाय। मङ्गलमयी गौ-माता की जय हो।

पशु और मनुष्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मनुष्य का मन या मस्तिष्क इतनी पूर्ण वस्तु है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक भी उसके विषय में बहुत कम जान पाये हैं। इस समय तीन प्रमुख विद्याएँ हैं—प्राणि-तत्त्व-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान और मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान। प्राणी-विद्या के पण्डित जीवन या चैतन्य की खोज करते हैं। उनके अनुसंधानों का प्रधान क्षेत्र जीवन-कोष या सेल है, जिनमें वे चैतन्य का अनुमान करते हैं। बहुत प्रयत्न के बाद भी यह ज्ञात नहीं हो सका है कि घटक-कोष में, जिनके समुदाय से चैतन्य का जीवन प्रकट होता है, प्राण किस प्रकार उत्पन्न होता है। भौतिक-विज्ञान का सर्वस्व परमाणु है। उसकी आन्तरिक रचना और स्वरूप के विषय में भी अब तक जो कुछ मालूम हो सका है, वह बहुत ही अपर्याप्त है। मानस-शास्त्र का सम्बन्ध मनकी शक्तियों से है। मन के स्वरूप का निर्णय करना उपर्युक्त दोनों शास्त्र विषयों से भी बहुत अधिक कठिन है। चैतन्य के स्फुरणों को ग्रहण करने में समर्थ मन के सदृश अन्य कोई भी पदार्थ इस जगत् में नहीं है। जड़ और चैतन्य की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का माध्यम मन है।

इस समय तक पश्चिमी शास्त्रोंको इतना मालूम हुआ है कि मन के दो भाग हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हें ही जाग्रत और सुषुप्त कहते हैं। सुषुप्त या परोक्ष-निहित मन यदि परिमाणमें एक सहस्र राशिक माना जाय, प्रत्यक्ष मन उसकी तुलना में एक अंश के बराबर समझना चाहिए। हमारा ज्ञान-विचार, स्मृति मेधा इनका बहुत अधिक व्यापार जाग्रत मानस से ही निवृत्त होता है। परन्तु उसकी विभूति परोक्ष मन की तुलना में इतनी है, जितनी ब्रह्माण्ड की तुलना में एक परमाणु की। हमारे समस्त संस्कार—इस जन्म के और जन्म-जन्मान्तरों के भी—इसी परोक्ष मानस के श्वेत पत्र पर छपे रहते हैं। उस पर पड़े हुए अंकस अनन्त हैं। उनमें से कुछ गिनती के छापों को ही हम प्रयत्न से स्पष्ट सिद्ध कर पाते हैं। इस निहित शक्ति के कारण ही छोटी-सी-नरदेह में समाया हुआ मनुष्य भी अत्यन्त महान् और विराट् है। प्रत्यक्ष मन सान्त, मर्त्य और स्वल्प है। परोक्ष मन अनन्त, अमृत और भूमा है। उपनिषद् में कहा है—"यो वै भूमा तदमृतम्।" भूमा की ओर अग्रसर होने में ही मनुष्य के लिए पूर्णता की प्राप्ति है।

मनोविज्ञान-शास्त्र के अनुसार बचपन में अधिकतर कार्य मन के परोक्ष भाग से ही निष्पन्न होते हैं; परन्तु उत्पन्न हुए बच्चे के मस्तिष्क में वह भाग जिस पर उसका ज्ञान-पूर्वक अधिकार हो, अनधिकृत या स्वतन्त्र भाग की अपेक्षा बहुत कम होता है। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है और नवीन अनुभव प्राप्त करता है, उसके प्रत्यक्ष मानस भाग का क्षेत्र विकसित होता जाता है। वैदिक परिभाषा में प्रत्यक्ष-भाग की संज्ञा मनुष्य और परोक्ष की पशु है। मनुष्य और पशु शब्दोंका धात्वर्थ ही इस बात को बताता है। 'मनुर्ो इति मनुष्यः।" जिसमें मनन या स्वयं चिन्तन की शक्ति है, वह मनुष्य-भाग है। "पश्यतीति

पशुः ।" जिसमें नैसर्गिक प्रवृत्ति से देखने या अनुभव की शक्ति है, वह पशु है। मनुष्य बुद्धि-प्रधान है और पशु चित्त-प्रधान है। पुरुष में बुद्धि और चित्त दोनों का समन्वय है। मन्त्रों की भाषा में मस्तिष्क के बुद्धि-प्रधान भाग का नाम इन्द्र और चित्त-प्रधान भाग का नाम अग्नि है।

बुद्धि के द्वारा हम जितनी उन्नति करते हैं, वह चित्त की उन्नति या संस्कार के बिना बिल्कुल अपूर्ण और अधूरी है। केवल बुद्धि की उन्नति से मनुष्य का पशु-भाग शान्त और संयत नहीं बनाया जा सकता। सदाचार, संयम, पवित्रता आदि दैवी गुणों की स्थिति का अधिकतम श्रेय चित्त की उन्नति को ही है। प्रायः देखने में आता है कि मनुष्य में दिमागी तरक्की खूब पाई जाती है। लेकिन चित्त की वृत्तियों पर काबू न पाने की वजह से कोई-कोई दबी हुई प्रवृत्ति अकस्मात् ज्वाला-मुखी की तरह फूट पड़ती है और बुद्धिपूर्वक बनाये हुए उन्नति के विशाल भवन को क्षण-मात्र में नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। चित्त का संपूर्ण ज्ञान और उसकी सब निहित शक्तियों का संयम ही सच्ची मानवी संस्कृति है।

पश्चिमी ढंग से चलाई हुई शिक्षा की रीति में भी बुद्धि या इन्द्र को ही खूब विकसित करने की ओर ध्यान दिया जाता है, चित्तवृत्तियों पर संयम प्राप्त करके उन्हें अपने अधिकार में लाने की शिक्षा उस शिक्षा-प्रणाली का अभिन्न अंग नहीं है।

इसके विपरीत भारतवर्ष के ऋषियों ने मनुष्य की इन दो मनः शक्तियों के तारतम्य को अच्छी तरह जान लिया था। शुरू से ही उनकी शिक्षा-प्रणाली में मस्तिष्क के पशुभाग या चित्त को समुन्नत बनाने पर बहुत ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मचर्य, पवित्रता, सत्यादि गुणों पर जो इतना अधिक ध्यान दिया गया था, उसका कारण और रहस्य यही है। 'अब्रह्मचारी को विद्या मत पढ़ाओ' यह विधान क्यों बनाया गया? मानो ज्ञान ने स्वयं प्रकट होकर आचार्य से कहा—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं,
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह,
तस्मै मा ब्रूयानिधिपाय ब्रह्मन्॥

पवित्र सावधान मेधावी ब्रह्मचारी ही ज्ञान-निधि की रक्षा कर सकता है, उसे ही मुझे देना।

यज्ञ के कर्मकाण्ड में पशुओं का उत्सर्ग भी इसी अध्यात्म अर्थ का द्योतक है।

मनुष्य स्वयं एक पशु है, जो यूप से बँधा हुआ है। मेरुदण्ड ही वह यूप है जिसमें प्राकृतिक विधानों के अनुसार (ऋत-सत्य के अनुसार) मनुष्यरूपी पशु बँधा हुआ है। पशु भाव को देवत्व में कल्पित करके उसे स्वर्गस्थ बनाना ही याज्ञिक कर्मकाण्ड का उद्देश्य है। मेरुदण्ड रूपी यूप ऊर्ध्व भाग मस्तिष्क है। वैदिक परिभाषा में यही स्वर्ग है। समस्त पशु-प्रवृत्तियों को वश में करके उन्हें स्वर्ग या मस्तिष्क के अधिकार में करना ही यज्ञ की सिद्धि है।

पुरातन योग-विद्या का उद्देश्य भी मस्तिष्क के जिस भाग पर अधिक से अधिक अनुशासन प्राप्त करना था।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

मनुष्य के भीतर प्राण या जीवन-शक्ति सबसे अधिक आश्चर्य की वस्तु है। मनुष्य क्या है? उसके भेद स्थूल पिण्ड को भेद कर देखिये, वह प्राण और अपान के दो संयुक्त तारों का एक टुकड़ा है। जैसे विद्युत्-प्रवाह के साधनीभूत दो विभिन्न ऋण-धन तारों का एकत्र मिलन रहता है, वैसा ही तत्व नरदेह की इस चमत्कारपूर्ण कारीगरी में है। वह इन दो प्राणोंकि संयोग से स्वयं पूर्ण है। इनके तारतम्य के विच्छिन्न हो जाने से प्राण उखड़ जाते हैं। इस प्राण-धारा का संयोग विश्व-व्यापी महाप्राण से है, जो वायु, अन्न, अग्नि आदि नाना रूपों में हमारे चारों ओर फैला हुआ है। महाप्राण के साथ सामञ्जस्य या संज्ञान की प्राप्ति ही देहस्थ प्राण के लिए अमरपन है, यही पुरातन योग है, इस संज्ञान का नाम ही समाधि है, इससे भिन्न विषमता या व्याधि है। वेदादि शास्त्रों की सार्वभौम वैज्ञानिकता के दावे की सबसे महत्वपूर्ण बुनियाद यही है कि प्राण रूपी विद्युत् के जितने सूक्ष्म नियमों का वर्णन और निरूपण इनमें मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। वस्तुतः प्राण और अपान ही प्राण के दो भेद हैं, जिस तरह एक ही विद्युत् के उपाधि-भेद से ऋण और धन नाम कल्पित कर लिये गये हैं। बिना द्विविधता के विद्युत् का कोई कार्य नहीं हो सकता। समस्त प्राजापत्य कर्म में नर-नारी, स्त्री-पुरुष, ऋण-धन आदि दो भावों की अनिवार्य स्थिति चाहिए।

बुद्धि और चित्त अथवा इन्द्र और अग्नि को संयुक्त देवता मानकर यज्ञ में द्विदैवत्य कर्म किये जाते हैं। इन्द्र कर्मेन्द्रिय का स्वामी है, अग्नि ज्ञानेन्द्रियों का। मस्तिष्क के मोटर कर्म और सेन्सरी ज्ञान भाग बहुत प्रसिद्ध है। हमारी स्थिति के लिए दोनों ही आवश्यक है। यज्ञ में दोनों का भाग या हवि दिया जाता है। मानस-शास्त्र के विद्वानों को वैदिक मनोविज्ञान पर विशेष ध्यान देना उचित है। देव और असुर, स्वर्ग और पृथ्वी, सोम और प्राण, मित्र और इन्द्राग्नि आदि मानस-शास्त्र के शब्द हैं। जिन वाक्, प्राण और मन का समन्वय नर-देह में है, उन्हीं तीनों के सहात्मक व्यापारों का वर्णन वैदिक मन्त्रों और याज्ञिक कर्मकाण्ड में पाया जाता है।

शरीर का गर्व न करो

गर्व भुलाने देह के, रचि रचि बांधे पाग।
सो देही नित के देखिके, चोंच संवारे काग॥

सुन्दर देही पाय के, मत कोई करै गुमान।
काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान॥

इस जीने का गर्व क्या, कहा देह की प्रीति।
बात कहत ढह जात है, बारू की सी भीत॥

दिव्य चक्षु

श्री चित्रगुप्तस्वरूपजी

प्रत्येक जीवात्मा के सिर में तीन नेत्र हैं। एक नेत्र बन्द रहता है और दो खुले होते हैं। यानी एक नेत्र गुप्त होता है और दो प्रकट होते हैं, उस गुप्त या प्रधान नेत्र को पण्डित लोग दिव्य चक्षु कहते हैं। उस असली आँख को योगी लोग शिव नेत्र कहते हैं और उस नूरेनजर को साधक लोग तीसरा नेत्र कहते हैं।

सर्वसाधारण का जो यह विश्वास है कि शिव नेत्र केवल शङ्करजी के शरीर में है, वह भ्रमपूर्ण है। योग विद्या घोषित करती है कि तीसरा तिल सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे, भगवान् शङ्कर की तरह, अपने दिव्य चक्षु का उन्मीलन कर सकता है—फिर चाहे उससे आग निकाली जाय या पानी; क्योंकि वहाँ पञ्चतत्त्व का एक केन्द्र रहता है।

शिव नेत्र में ब्रह्म का, दाहिने नेत्र में काल का और बायें नेत्र में शक्ति का निवास है। इन तीनों अंशों की संयुक्तावस्था ही परमेश्वर का रूप है। विराट् में जो आत्म-मण्डल की त्रिपुटी है, ये तीनों नयन उसी की छाया हैं। शिव नेत्र का सम्बन्ध ब्रह्म मण्डल से, दाहिने का सूर्य मण्डल से और बायें का सम्बन्ध चन्द्र मण्डल से है। शिव नेत्र से विचार उत्पन्न होता है, दाहिने नेत्र से इच्छा पैदा होती है और बायें से क्रिया उत्पन्न होती है।

दिव्य चक्षु का प्रमाण—प्रत्येक घट में दिव्य चक्षु के होने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब आप सो जाते हैं, तब ये बाहरी दोनों नेत्र बन्द हो जाते हैं। फिर आप जो सपना देखते हैं, वह उसी भीतरी नेत्र के प्रकाश से देखते हैं। दिव्य चक्षु का प्रकाश बाहरी दुनिया में तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसका बाकायदा उन्मीलन न किया जाय। परन्तु दिव्य चक्षु का प्रकाश भीतरी दुनियाँ में—(सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् और आत्मजगत् में) स्वयं भरपूर रहता है। इसी कारण स्वप्न में जो कुछ होता है, वह दिखाई पड़ता है। सपने को मन नहीं देखता, क्योंकि मन में देखने की शक्ति नहीं होती। अगर मन ही देखता तो अपने मन का आकार क्यों दीखता? सपने में अपना मन आकार धारण कर लेता है और सपना देखने वाले की सूरत धारण कर लेता है। अगर मन ही देखता होता तो आप अपने मन का धारण किया हुआ आकार कैसे देख सकते थे? सपने में आप सहित सभी बातें दिखाई दिया करती हैं। शिव नेत्र का प्रकाश ही आपके मन का आकार आपको दिखलाता है। अतः सपनों का दीखना मन की शक्ति के अन्तर्गत नहीं—दिव्य चक्षु की शक्ति के अन्तर्गत है। सिनेमा के परदे पर जो खेल होता है, वह फिल्मरूपी मन की लीला जरूर है, मगर उस लीला को प्रकाशित करने का श्रेय उस रोशनी को है, जो ऊपर से आकर उस परदे पर पड़ रही है। बिजलीरूप दिव्य चक्षु ही परदे पर प्रकाश डालता है। तभी सब खेल दिखलायी पड़ते हैं।

उन्मीलन का विधान—पद्मासन से बैठो। नेत्रों को बन्द करो। जीभ को तालू की ओर

मन ही साधन है

❀ श्री चक्रपाणि

साधन की अपेक्षा साधक की होती है, साधक की अपेक्षा साध्य की होती है। अर्थात् पहले साध्य, पीछे साधक और तब साधन। साध्य कोई वस्तु साधक के पहले से है, साधक उसी की इच्छा करता है और उसका यह इच्छा करना ही साधन बनता है। इष्ट (जिसकी हम इच्छा करते हैं) साध्य है, इच्छा साधन है और साधक इन दोनों का संयोजक है। यह साधक कौन है, जो साध्य की इच्छा करता है।

यह मन है, जिसकी इच्छा ही उसकी गति है। हम जो चाहते हैं, वही तो करते हैं और वही तो होता है। संसार में क्या हो रहा है? युद्ध। युद्ध ही सही। पर क्या यह हमारी इच्छाओं का ही संघर्ष नहीं है? जगत् में जितने जीव हैं, सब किसी न किसी वस्तु को पाने की इच्छा करते हैं और ये इच्छायें एक दूसरी से टकराती हैं—यही संघर्ष है, यही युद्ध है। संसार में युद्ध न हो, यह भी एक इच्छा है और वह कभी युद्ध की इच्छा को दबाती और कभी स्वयं उससे दबती है। इसलिये संसार में शान्ति और युद्ध दोनों ही बने रहते हैं। यदि कहीं ऐसा हो जाय कि कोई जीव कोई इच्छा ही न करे तो युद्ध असम्भव है। पर क्या कभी ऐसा हो सकता है? हम अपनी ही बात को देखें तो यह कहना पड़ेगा कि एक क्षण भी हमारा ऐसा नहीं बीतता, जब हम किसी इच्छा के वश में न हों। प्रत्येक क्षण हम अपनी इच्छा के पीछे चल रहे हैं। ये इच्छायें (हमारी अपनी ही) कभी-कभी इतनी परस्परविरोधिनी होती हैं कि इच्छा के उदयकाल में तो हमें उनके परस्परविरोधी फलों का अनुमान नहीं होता, पर फलोदयकाल में ये फल इतने परस्परविरुद्ध होते हैं कि हम घबरा जाते हैं कि यह क्या हो रहा है। ऐसा मालूम होता है कि हमने ऐसी विकट संघर्षमय परिस्थिति की तो कभी इच्छा नहीं की थी, ईश्वर ने यह क्या कर दिया! हमने अपनी परस्परविरोधिनी इच्छाओं का कोई खाता नहीं रक्खा है, इसलिये हम हिसाब फैलाकर यह नहीं देख सकते कि यहाँ हमारे जिम्मे क्या देना-पावना है। पर इतना तो स्पष्ट है कि इच्छा ही

चढ़ा लो। अपने ध्यान को दोनों भृकुटि के मेल के स्थान से—यानी नाक की जड़ से—दो अंगुल ऊपर जमाओ। यह ध्यान सिर के बाहरी भाग पर न होना चाहिये—भीतरी भाग पर होना चाहिये। ध्यान के समय 'शिव' मन्त्र का जाप मन से करना चाहिये।

फल—जिनका दिव्य चक्षु खुल गया है, उनको ज्ञान और शक्ति से काम लेने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको सब स्थानों की घटनायें दिखलायी पड़ने लगती हैं। उनका मन धीरे-धीरे स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और पराये के भविष्य का हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देव दर्शन प्राप्त होता और स्वास्थ्य बढ़िया रहता है।

हमारी पूँजी है और उसीसे उसका ब्याज बढ़ता जा रहा है और ब्याज से पूँजी भी बढ़ती जा रही है। यह एक प्रकार का साधन ही तो है; क्योंकि हम जब इच्छा करते हैं, तब किसी साध्य को पाने की ही इच्छा करते हैं और जो इच्छा करते हैं वही करते हैं, वही होता है। इस साधन को शिष्ट लोग साधन नहीं कहते; क्योंकि यह शिष्टों के विचार से मनुष्योचित साध्य का साधक नहीं, बल्कि बाधक है—बन्धन है। 'साधन' शब्द का भी प्रयोग करना हो तो हम कह सकते हैं कि यह बन्धन का साधन है, मुक्ति का नहीं। पर मुक्ति साध्य हो या बन्धन, साधक का साधन है मन ही—इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्धमोक्षयोः।

अच्छा तो अब यह विचारें कि मनुष्योचित सामान्य साध्य क्या है? 'सामान्य' शब्द का प्रयोग हम इसलिये करते हैं कि जितने मनुष्य हैं, उन सबकी मति भिन्न-भिन्न है और उसके अनुसार साध्य भी सबके भिन्न-भिन्न अर्थात् विशेष-विशेष हो सकते हैं। सब मनुष्यों का मनुष्य के नाते एक सामान्य साध्य है, उसी को हम मनुष्योचित सामान्य साध्य कहते हैं। यह सामान्य साध्य सब मनुष्यों का है और प्रत्येक मनुष्य का भी, इसीलिये इसे सामान्य साध्य कहते हैं। कोई मनुष्य इस सामान्य साध्य के बिना मनुष्य नहीं रह सकता; क्योंकि मनुष्य का जो सामान्य लक्षण है, वह उसमें नहीं है। वह साध्य क्या है? साध्य सदा ही इतना ऊँचा होता है कि वहाँ तक हमारे हाथ नहीं पहुँचते और पहुँचाने की हमें इच्छा होती है। अर्थात् वह अवस्था मनुष्य की सामान्य अवस्था से ऊँची होती है। इस अवस्था को हम लोग अमानव, अलौकिक अथवा दिव्य कहते हैं। मनुष्य के नीचे की योनियों में एक ऐसी सोपान परम्परा देख पड़ती है, जिसमें प्रत्येक सोपान के जीव अपने से ऊपर के सोपान के जीवों को देखते हैं और सम्भव है उन्हीं की अवस्था को साध्य मानकर अपना जीवन उसी की प्राप्ति में लगा देते हैं और इस क्रम से अन्त में मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं। पर मनुष्य योनि में आकर इसके ऊपर की योनि उतनी स्पष्ट नहीं देख पड़ती जितनी कि पशु-पक्षियों को मनुष्य योनि देख पड़ती है। मनुष्य का अनित्य, दुःखमय लौकिक जीवन ही उसे नित्य सुखमय दिव्य योनि की सत्ता का भान कराता है। उस सत्ता को पाना ही मनुष्य का साध्य है, मनुष्य ही उसका साधक है और उसे प्राप्त करने की इच्छा करने वाला उसका मन ही उसका साधन है।

यह साधन हम कैसे करें? यह साधन क्या है?—मन। साध्य क्या है?—मनुष्य के मन के ऊपर की स्थिति। बस, उसी में इस मन को लगा दो—साध्य में साधन को लगा दो। 'लगा दो' कहने से भी नहीं होगा। संसार में हम अपने मन को लगाते हैं; क्योंकि

तीन पवित्र अहंवादी

श्री जे० कृष्णमूर्ति

कुछ दिनों पहले तीन व्यक्ति मिलने आये। उन तीनोंमें एक प्रकार का श्रद्धायुक्त था, अहं-केन्द्रितता भी थी। उनमें एक सर्व-संग-परित्यागी संन्यासी था। दूसरा प्राच्य-विद्या-विशारद था और विश्व-बन्धुत्व के प्रचार-कार्य में उसकी विशेष निष्ठा थी। तीसरा व्यक्ति आदर्श समाज-निर्माण का कार्य करता था। प्रत्येक अपने अंगीकृत कार्य कार्य की सिद्धिमें प्राणपण से जुटा था। अन्य सब लोगों की प्रवृत्तियों तथा कार्यों के प्रति उन तीनोंमें तुच्छता की भावना थी। अपनी-अपनी विशिष्ट निष्ठा के कारण प्रत्येक की सामर्थ्य बढ़ रही थी। प्रत्येक में अपने विषय के प्रति उत्कट आस्था थी और एक प्रकार की कठोरता स्पष्ट दीख रही थी।

उन तीनों का कहना था कि अपने स्वीकृत ध्येय के लिए अपना ही नहीं, बल्कि अपने मित्रों का बलिदान करने की भी उनकी तैयारी है। आदर्श समाजवादी व्यक्ति में तो यह वृत्ति और भी स्पष्ट थी। यों वे तीनों ही नम्र और स्वभाव से सौम्य दिखाई दिये; बन्धु-भाव का प्रचारक तो विशेष सौम्य स्वभाव का प्रतीत हुआ। इसके बावजूद अपने को श्रेष्ठ कोटि का समझने वाले लोगों में जो विशेष प्रकार की असहिष्णुता और क्रूरता होती है, वह उन सबमें दिखाई देती थी। वे तीनों निःशंक रूप से समझते थे कि अपनी विशिष्ट निष्ठाओं के वे ही प्रेषित (वाहक) है, वे ही भाष्यकार हैं और उन्हीं को उन निष्ठाओं का सच्चा ज्ञान है।

संन्यासी अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कह रहा था कि "हम जो साधना कर रहे हैं, वह केवल आगे के जन्म के लिए है, क्योंकि सब प्रकार की भौतिक एवं सांसारिक बातें मिथ्या हैं, इसका हमें ज्ञान हो चुका है और सामान्य सांसारिक जीवन का हमने त्याग किया है। अतएव इस जन्म में कुछ अधिक प्राप्ति की हमारी अपेक्षा नहीं है।" बादमें वह विश्वास-

---

मनुष्य उसकी इच्छा करता है और जिसकी इच्छा करता है, उसे वह पा लेता है। कैसे? मन को लगाकर, मन को तन्मय करके, मन को उसीका संकल्प और कर्म करने में प्रवृत्त करके मन को उसी के सामने झुकाकर, उसी को साध्य मानकर साधन सहित उसका रास्ता चलकर। इसीलिए मनके ऊपर मनुष्य का जो महान् अमानव अलौकिक अमृत आनन्दमय साध्य है, जो साधक के पहले से वहाँ स्थित है और जिसने ही यह साधन—मन मनुष्य को दे रखा है, उसीकी यह वाणी है–

मन्मना भव मद्भक्तो,
मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव-
मात्मानं मत्परायणः॥

जहाँ साध्य सामने हो, साधक का मन तत्परायण हो वहाँ साध्य-साधक-साधन की सिद्धिमें और क्या चाहिए? साधन की सीढ़ी पर जिसने पैर रखा, वह साधन के ऊपर साध्य का हाथ पकड़कर ही उसके समीप जा रहा है। वह साधन है मन, इसीका साध्य के साथ योग होना मनुष्य-जन्म का लक्ष्य है।

पूर्वक यह भी कहने लगा कि "ध्यान-धारणा साधने के मार्ग में हमें कुछ कठिनाइयों का भाव हो रहा है और वैयक्तिक दुर्बलता का भान भी हो रहा है, किन्तु अगले जन्म में तो हम अपने ध्येय तक निश्चित रूप से पहुंच ही जायेंगे।

अगले जन्म में वह एक विशिष्ट उच्च स्थितिको अवश्य प्राप्त करेगा, ऐसी संन्यासी की दृढ़ श्रद्धा थी। इस श्रद्धा के कारण ही उसे जीने में आनन्द का अनुभव हो रहा था और सार्थकता प्रतीत हो रही थी। हम दोनों काफी देर तक बातें करते रहे, लेकिन उसके सारे भाषण में उसका जोर केवल 'कल' पर, केवल भविष्य पर है, यह साफ-साफ प्रकट हो गया। कुल मिलाकर उसका कहना था कि भूतकाल का अस्तित्व है यह सच है, लेकिन भूतकाल को जो सार्थकता प्राप्त होती है, वह भविष्य के सम्बन्ध के कारण ही होती है। वर्तमान तो भविष्य तक पहुंचने का एक पड़ाव मात्र है. इतना ही उसका महत्व है। 'आज' का महत्व केवल 'कल' के कारण ही है। 'कल' का, 'भविष्य' का सचमुच में अगर कोई अस्तित्व नहीं है तो फिर प्रयत्न और पुरुषार्थ का भी कोई अर्थ है? फिर मनुष्य प्रयत्न ही क्यों करे। तुच्छ कीड़े-मकोड़े की तरह या गरीब गाय की तरह क्यों न रह जाय?

संन्यासी का कहना था कि यह सम्पूर्ण जीवन भूतकाल में प्रारम्भ होकर क्षणिक वर्तमान से भविष्य की ओर बहने वाला एक अखण्ड प्रवाह है। भविष्य में कोई विशिष्ट उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए या ज्ञानी, शक्तिशाली, दयावान् वगैरह बनने के लिए हमें वर्तमान का उपयोग करना चाहिए। वर्तमान और भविष्य दोनों ही नश्वर हैं। परन्तु वर्तमान के कार्यको जो सफलता प्राप्त होती है, वह भविष्य में ही होती है। आज तो केवल कल का साधन है। इसलिये उसे विशेष महत्व देने का या उसकी चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है; हाँ, मात्र कल का ध्येय हमें सतत् स्पष्ट रूप से सामने रखना चाहिए और उस ध्येय तक पहुंचने में यश प्राप्त करना चाहिए। कुल मिलाकर 'आज' या 'वर्तमान' के प्रति उसमें एक प्रकार की तुच्छता और अधीरता दिखाई दी।

विश्व-बन्धुत्व का प्रचारक अधिक विद्वान् था। उसकी भाषा भी काव्यमय थी। उसकी शब्द-योजना विशेष कुशल, मोहक और प्रभावपूर्ण थी। भविष्य के सम्बन्ध में उसने भी एक स्पष्ट चित्र रेखाङ्कित किया था और उसमें अपने लिए एक उच्च स्थानकी कल्पना की थी। भविष्य की इस मोहक कल्पना से उसका हृदय विमुग्ध था। उस काल्पनिक भविष्य के आधार पर उसने शिष्य-समुदाय भी जमा कर लिया था। बात करते-करते उसने कहा—"मृत्यु सचमुच सुन्दर है, क्योंकि उसी के कारण उस दैवी स्थान तक अल्प-काल में पहुंचना सम्भव है। इस विश्वास के कारण ही इस दुःख-दैन्यमय जगत् में रहना मुझे कठिन नहीं लगता।"

इस जगत् को सुधारने और धरती पर स्वर्ग उतारने के लिए वह आकुल था और

इसी कारण मनुष्यमात्र में बन्धुभाव बढ़ाने के लिए उत्कट रूप से प्रयत्नशील था। उसका यह निश्चित मत था कि आज के इस जगत् में कोई भी संगठित कार्य करना हो तो उसके साथ-साथ महत्वाकांक्षा और उसके कारण निष्ठुरता तथा भ्रष्टता अपरिहार्य रूप में आ ही जाती है और संगठनात्मक कार्य पूरा करने के लिए तो थोड़ी-बहुत निष्ठुरता का आश्रय लेना ही पड़ता है। "हमारा कार्य मानव-जातिके कल्याणकर है, इसलिए उसका कुछ अलग ही महत्व है, अतएव इस कार्य में जो-जो बाधाएँ उत्पन्न करेंगे, उन्हें सौम्यता-पूर्वक ही क्यों न हो, लेकिन मार्गसे हटा देना ही होगा। अपने कार्य के लिए निमित्त संघ-टना अत्यन्त मूल्यवान् है, इसके लिए उसके विस्तार के आड़े कोई भी चीज आने देना उपयुक्त नहीं है।" दूसरोंके लिए उनके भिन्न, स्वतन्त्र मार्ग है, लेकिन हमारा यह मार्ग कुछ विशेष महत्व रखता है। इसलिये उनके आड़े भी आयेगा वह निःसंशय 'हमारे में से नहीं है,' अपनी यह धारणा वह दृढ़तापूर्वक बता रहा था।

और उस तीसरे आदर्श समाजवादी व्यक्ति में ध्येयवाद और व्यवहारवाद का कुछ आश्च-र्यजनक संमिश्रण था। उसका पवित्र ग्रन्थ पुराना न होकर नया था और उसपर उसकी अत्यन्त श्रद्धा थी। भविष्यमें क्या घटने वाला है, सब उसे ज्ञात था; क्योंकि उसके पवित्र ग्रन्थमें सारा भविष्य लिखा रखा था। समाज में पहले वैचारिक गड़बड़ी पैदा की जाय और अपने संगठन-चातुर्य से उसका लाभ उठाकर अपने इच्छानुसार ध्येय की सिद्धि करा ली जाय, ऐसी सामान्यतः उसकी योजना थी। वर्तमान जगत् भ्रष्ट है, इसलिए उसका विध्वंस करना ही चाहिए। इस विध्वंस के बाद ही नव-समाज की रचना संभव होगी। भविष्य के लिए वर्तमान का बलिदान करना ही चाहिए; वर्तमान के मानवका नहीं, बल्कि भविष्यके मानव का ही महत्व है, यह उसका निश्चित मत था।

अपनी बात वह और विस्तार से समझाने लगा—"इस भावी मानव का निर्माण कैसे किया जाय? इसकी हमें पूरी कल्पना है। उसका मन और हृदय दोनों हम विशिष्ट तन्त्र से गढ़ सकते हैं। लेकिन कोई भी अच्छी चीज गढ़ने के लिए सर्वप्रथम हमारे हाथ में सत्ता आनी चाहिए। इस नवराज्य के निर्माण के लिये हम अपना तथा दूसरों का भी बलि-दान करेंगे और जो भी हमारे आड़े आयेगा, उसे हम सीधे यमलोक पहुँचा देंगे; क्योंकि महत्व साधनों का नहीं है। साध्य के लिए जिन-जिन साधनों का उपयोग किया जायेगा वे सब समर्थनीय ही होंगे।"

शान्ति के अन्तिम साध्य के लिए आज हिंसा के किसी भी रूप का सहारा लेना और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के अन्तिम साध्य के लिए आज सत्ताशाही या अफसरशाही का उपयोग करना अपरिहार्य ही है, यह उसका दृढ़ विश्वास था।

"एक बार हमारे हाथ में सत्ता के आते

ही वर्ग-रहित और पुरोहित-रहित नये जगत् के निर्माण के लिए हम सब प्रकार की दमन-शाही का सहारा लेंगे। अपने मूलभूत सिद्धांत से हम बिल्कुल भी नहीं हटेंगे, वह सिद्धांत सदैव ध्रुव रहेगा। लेकिन बदलती हुई परि-स्थिति के अनुसार हमारी नीतियाँ बदलती रहेंगी। भावी मानव के निर्माण के लिए वर्तमानकालीन मानव का नाश अपरिहार्य है। हम अपनी योजना उसी नीतिके अनुसार बना रहे हैं, संगठन बढ़ाकर रहे हैं और तद-नुसार कार्य कर रहे हैं।" यह बात वह अत्यंत आत्म-विश्वास से कह रहा था।

वह संन्यासी, वह विश्वबन्धुत्व का प्रचारक और वह आदर्श समाजवादी—ये सब कल के लिए भविष्य के लिये जी रहे हैं। ऐहिक या सांसारिक दृष्टि से उन्हें महत्वाकांक्षी नहीं कहा जा सकता। यह सच है कि उन्हें आदर-मान, सम्पत्ति अथवा लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी चाह नहीं है, लेकिन उनकी महत्वा-कांक्षा सांसारिक महत्वाकांक्षा की तुलना में बहुत ही सूक्ष्म और भयानक है। नव-समाज रचना के लिए जिस पक्ष के हाथ में सत्ता आयेगी, उस पक्ष के साथ वह आदर्श समाज-वादी अपनी भावना के कारण एकरूप हो गया है। विश्व-बंधुत्वके प्रचारक की आकांक्षा भविष्य में दैवी स्थान प्राप्त करने की है और संन्यासी की आकांक्षा अपना विशिष्ट ध्येय प्राप्त करने की है। कुछ महान् प्राप्त करने के और किसी भी उच्च स्थान पर पहुंचने की महत्वाकांक्षा के आवरण के नीचे ये सब अपने अहंकार का ही पोषण कर रहे हैं। इस अहं-कार विस्तार की भावना से इन तीनों का जीवन व्याप्त है। दुर्भाग्य की बात यह है कि अपना-अपना विशिष्ट आदर्श निर्माण करने की उनकी यह उत्कट आकांक्षा ही वास्तविक शान्ति यथार्थ बंधुत्व और परम सौख्य के लिए बाधक बन रही है, इसका उन्हें पता तक नहीं है।

महत्वाकांक्षा किसी भी प्रकार की हो—किसी राजनीतिक पक्षके लिए हो, व्यक्तिगत मुक्ति के लिये हो या आध्यात्मिक साध्य के के लिए हो—हमेशा तत्काल करने की बात को कल पर टाल देने की सुविधा कर देती है, क्योंकि आकांक्षा अथवा वासना सदैव भविष्य की ओर दृष्टि रखकर बैठी रहती है। भविष्य में कुछ विशेष हो जाने की इच्छा रखने का मतलब है वर्तमान में जो करना आवश्यक है, उसे टालना। वस्तुतः आज का क्षण ही कल की अपेक्षा अधिक अर्थगर्भ होता है। इसी क्षण में सम्पूर्ण काल समाविष्ट है। वर्तमान क्षणकी अर्थगर्भता की यथार्थ जानकारी होने का मतलब ही है कालके बन्धन से मुक्ति और भविष्य में कुछ न कुछ रच डालने पर लक्ष्य केन्द्रित करने का अर्थ है अनादिकाल से चली आई काल-शृंखला को सतत बनाये रखना। भविष्य में कुछ विशिष्ट हो जाने की जो आकांक्षा है, उसमें चिन्मय अस्तित्व रह ही नहीं सकता। ऐसी चिन्मयता में सतत रहना ही मूलभूत परिवर्तन का श्रेष्ठतम स्वरूप है। मूलभूत परिवर्तन केवल वर्तमान में ही, केवल चिन्मय रहने में ही निहित है।

अवतार-कल्पना

श्री साने गुरु

ऐसा समझा जाता है कि अपौरुषेय और अवतार के कारण भारतीय लोगों का अधःपतन हुआ। अब अपौरुषेयवाद में तो किसी का विश्वास नहीं है। इस बीसवीं शताब्दी में कोई भी यह मानने के लिए तैयार नहीं होगा कि वेद मनुष्यों ने नहीं लिखे, ये आकाश से गिरे हैं। वेद में अनेक स्तोत्र इस प्रकार के उद्गार प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं कि "मैं आज इस नवीन स्तोत्र की रचना कर रहा हूं।" वेद का अर्थ तो विचार, ज्ञान और अनुभव का खजाना—बस इतना ही करना चाहिये। वेद के आधार पर स्थापित किये हुए धर्म का मतलब है ज्ञान के ऊपर, अनुभव के ऊपर स्थापित किया हुआ धर्म। जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती जायगी, नया-नया अनुभव मिलता जायगा, वैसे-वैसे सनातन धर्म का स्वरूप भी नया-नया बनता जायगा। सनातन धर्म का अर्थ है प्रगतिशील धर्म।

लेकिन यह समझ में नहीं आता कि अवतारवाद से क्या नुकसान होता है? अवतारवाद की मूलभूत कल्पना त्रिकालाबाधित है। अवतारवाद का अर्थ दुर्बलतावाद नहीं। अवतारवाद का अर्थ प्रयत्नोंका अभाव नहीं। अवतारवाद का अर्थ है अपार प्रयत्नवाद और अवतारवाद का अर्थ है अविरत कर्म, अखण्ड उद्योग।

हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने से अवतार नहीं होते। बिलोये बिना मक्खन नहीं मिलता, बिना परिश्रम के फल नहीं मिलता, बिना कष्ट उठाये काम नहीं होता। इसी तरह बिना प्रयत्न के अवतार ही नहीं होता। प्रयासोंकी पराकाष्ठा में ही अवताररूपी फल लगता है।

हमारे मन की आशा-आकांक्षा हमें जिस व्यक्ति में अवतरित दिखाई दे वही अवतार है। हमारे मन के ध्येय, हमारी भावनायें, हमारे सुख-दुःख और हमारे मन के विचार हमें जिस व्यक्ति में मूर्तिमान दिखाई दें वही अवतार है।

अवतार पहले नहीं होता। पहले हम होते हैं, बाद में अवतार! हम सब प्रयत्न करते हैं, छोटे-बड़े सब प्रयत्न करते हैं। सभी अपनी-अपनी ओर से समाज में सुख और शान्ति का निर्माण करने के लिए शक्ति-भर कष्ट उठाते हैं, लेकिन हमारे सबके प्रयत्नों में एकसूत्रता नहीं होती, एकाग्रता नहीं होती। हम जिधर मन में आता दौड़ने लगते हैं—जिधर मन में आता प्रयत्न करने लगते हैं। हम सबको यह मालूम रहता है कि हमें एक नये संसारका निर्माण करना है। सबमें उत्कट भावना होती है, सबमें लगन होती है, लेकिन ये सारे प्रयत्न अलग-अलग होते हैं।

हमारे मन में कुछ न कुछ कल्पना अवश्य होती है, लेकिन वह कल्पना स्पष्ट नहीं होती है। हमारी आंखों के सामने हमारा ध्येय अस्पष्ट रहता है। इस अस्पष्ट ध्येयको स्पष्ट करने के लिये ही अवतार की आवश्यकता होती है, वह एक सामाजिक आवश्यकता ही है। अवतार अकस्मात् नहीं होता, वह

धूमकेतु की भाँति कहीं दूसरी जगह से नहीं आता। लाखों लोगों के अस्पष्ट प्रयत्नों में से स्पष्ट ध्येय दिखाने वाला अवतार सृष्टि के नियमों के अनुसार ही होता है।

घरें-घरें घूमने वाले अणु जिस प्रकार स्थिर हो जाते हैं उसी प्रकार चक्कर में पड़े हुए साधारण जीव ध्येय की स्पष्ट दिशा दिखाने वाले के आसपास स्थिर हो जाते हैं। जिस प्रकार लोहे के कण चुम्बक के पास आ जाते हैं, जिस प्रकार ग्रह सूर्य के आसपास घूमने लगते हैं, उसी प्रकार प्रयत्न करने वाले जीव प्रयत्नों का गन्तव्य स्थान दिखाने वाले महापुरुष के आसपास घूमने लगते हैं।

श्रीरामचन्द्र के जन्म के पहले बन्दर प्रयत्न कर रहे थे। उन वानरों के प्रयत्नों के कारण ही राम का जन्म हुआ था। गोकुलमें ग्वालों के प्रयत्न के कारण ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। ग्वालों के हाथ में लकड़ी रहती थी, लेकिन उन लकड़ियों को एक ध्येय पर केन्द्रित करने के लिए श्रीकृष्ण की आवश्यकता थी। हाथ में लकड़ी लेकर घूमने वाले ग्वालोंको पुकारकर श्रीकृष्ण ने कहा, "आओ आओ, सब लोग आ जाओ! हमें इन्द्र के जुल्म को मिटाना है न? आओ, हम सब लोग मिलकर गोवर्धन पर्वत को उठाएं। लगाओ एक साथ लाठियां। एक ध्येय के लिए सब लोग खड़े हो जाओ!" ग्वालों ने ही लकड़ियां उठायीं, उन्होंने पर्वत उठाया, कृष्णने क्या किया? उन्होंने तो केवल उँगली दिखाई। यहाँ लकड़ी लगाओ, यहाँ एक जगह आओ, इस पर्वत को उठाओ। इस जुल्म को दूर करो। कृष्ण तो केवल पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। अवतारी पुरुष जनता के प्रयत्नों को एक विशेष दिशा में मोड़ देते हैं। शक्ति जनता की होती है, लेकिन केन्द्रीभूत और सुसंगठित न होने के कारण वह परिणामकारक नहीं होती। जब उस शक्ति को व्यवस्थित स्वरूप दे दिया जाता है तब वह अमोघ हो जाती है, तेजस्वी हो जाती है, अप्रतिहत हो जाती है। वह सारे सङ्कटों की समाप्ति किये बिना नहीं रहती।

छत्रपति शिवाजी महाराज मानो महाराष्ट्र के लाखों प्रयत्नशील लोगों को एकत्र करने वाली एक महान् शक्ति थी। उनकी बलवान् मूर्ति आँखों के सामने आते ही उस काल के सारे प्रयत्न करने वाले लोग शीघ्र ही बिना बुलाये उस शक्ति के सामने खड़े हो जाते हैं और उनके आदेश को मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। अवतारी विभूति का अर्थ है स्थिर विभूति—ध्येय पर दृष्टि रखकर अटल खड़ी रहने वाली विभूति। हम सब ध्येयपूर्वक हैं, लेकिन हमारा यह निश्चय नहीं रहता है कि चाहे आसमान टूट पड़े या पृथ्वी फट जाय हम उसे ही पकड़े रहेंगे। हम मोह में पड़ जाते हैं, सुख के लालच में फँस जाते हैं। काटों से घबराने लगते हैं, मुसीबत से डरने लगते हैं और मृत्यु से पराङ्-मुख होते हैं। हम सब ध्येय के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन वह प्रयत्न कब ठण्डा पड़ जायगा, कब समाप्त हो जायगा, यह नहीं कह सकते।

इस प्रकार के चंचल लोगों की ध्येय-श्रद्धा को महापुरुष दृढ़ बनाते हैं। संसार उन महापुरुषों की परीक्षा लेता है। सुकरात की परीक्षा ली गई थी, ईसा की परीक्षा ली गई थी, परन्तु वे महान् पुरुष अविचल खड़े और वे संसारके श्रद्धाभाजन बने हुए हैं। वे संसार के प्रयत्नों को अपने दिव्य-भव्य धैर्य से और आत्म-त्याग से सही दिशा में मोड़ देते हैं।

फिर अवतार का अर्थ क्या है? जबरदस्त लगन के साथ प्रयत्न करना। हमारे छोटे प्रयत्नों में से छोटेसे अवतार का निर्माण होगा, बड़े प्रयत्नों में से बड़े अवतार का निर्माण होगा। महात्मा जी की शक्ति बढ़ाना हम लोगों के हाथ में थी। राम के शब्दों की कीमत बढ़ाना वानरों के हाथमें थी। इंगलेंड जाते समय गांधीजी ने कहा था, "मैं वहाँ से क्या लाऊँगा, मैं लाने वाला कौन होता हूँ? जो कुछ तुम दोगे वही मैं लाऊँगा, मैं तो तुम्हारी ही शक्ति हूँ।" महापुरुषों की शक्ति बहुजन समाज की शक्ति से मर्यादित रहती है। जिस अनुपात से बहुजन समाज प्रयत्नों की पराकाष्ठा करेगा उसी परिमाण से अवतारी पुरुष अपनी प्रभा फैलायेगा।

आपको अवतार की आवश्यकता है न? तो फिर भारतीय संस्कृति कहती है, "अपनी सारी शक्ति से ध्येय की ओर बढ़ने के लिए खड़े हो जाओ। स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, राजा-रंक सभी खड़े हो जाओ। जरा आँच लगने दो, हृदय जलने दो, हाथ-पैर हिलने दो, करोड़ों लोगों के ऐसे हार्दिक आन्दोलनों में से ही महापुरुष प्रकट होते हैं और उनके प्रयत्नों में आगे सफलता के फल लगते हैं।"

इमर्सन ने एक स्थान पर कहा है कि 'महापुरुष मानो लहर की झाग है।' कितनी सुन्दर उपमा है! लहर कितनी दूरसे चढ़ती-गिरती जाती है, निरन्तर बढ़ती हुई जाती है। अन्त में वह ऊँचाई की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। उस समय उस लहर के शिखर पर स्वच्छ झाग आ जाती है, वह उस लहर का निर्मल अन्तरंग है। समाज में कितने ही वर्षों से आन्दोलन हो रहा है, प्रयत्न हो रहे हैं। कदम बढ़ते जा रहे हैं। समाज में आन्दोलन बढ़ते-बढ़ते प्रचण्ड लहर जैसे बन जाते हैं और उस लहर के सिर पर महापुरुष खड़ा रहता है। उस लहर की स्वच्छता ही मानो वह अवतार है। जनता के अनन्त प्रयत्नों में हलचल पैदा होने से जो स्वच्छ पवित्र स्वरूप ऊपर आ जाता है वही स्वरूप मानो महापुरुष है। जनता के प्रयत्नों की सारी प्रखरता, सारा पवित्र संकल्प, सारी निर्दोष विशालता उस अवतारी पुरुषके द्वारा संसार को दिखाई देती है। लोगों के प्रयत्नों का सुन्दर नवजात शिशु ही मानो वह महान् विभूति है।

कहा जाता है कि सपूत सत्कुल में उत्पन्न होता है। इस कहावत का यही अर्थ है कि तपस्या के गर्भ में एक सद् अंकुर का निर्माण होता है। जिस समाज में तपस्या है, लगन है, प्रयत्न है, ध्येय निष्ठा है, उस समाज में महात्माओं का अवतार होता है। महात्मा बुद्ध के जन्म लेने के पूर्व भारत में एक प्रचण्ड

वैचारिक आन्दोलन चल रहा था। जगह-जगह यह बहस शुरू हो गई थी कि यह बात सत्य है या वह। जगह-जगह चर्चा और अध्ययन-मण्डल दिखाई देते थे। उस प्रकार की प्रचण्ड वैचारिक क्रान्ति में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। उस वैचारिक लहर के ऊपर शुद्ध स्वच्छ झाग ही मानो यह महान् सिद्धार्थ है।

अपने अनन्त प्रयत्नों या आन्दोलनों का संचालन करने वाला, हमारे अनन्त प्रयत्नों का अर्थ बताने वाला महापुरुष देखकर हमारा हृदय उछलने लगता है। माँ को जब बालक के नौ मास उदर में रखने और प्रसव-पीड़ा के सहन करने के फलस्वरूप बालक का जन्म होता है, तब वह सब कुछ भूल जाती है, यही हाल जनता का है। जनता महापुरुषों की जननी है। इन महापुरुषोंका नामोच्चार करते-करते जनता में अपूर्व स्फूर्ति आ जाती है।

हम स्वाभाविक रूप से कह देते हैं कि नाम-जप का क्या अर्थ है? लेकिन नाम-जप में अपार शक्ति है। 'वन्देमातरम्' मात्र का जप करते-करते छोटे बच्चे हँस-हँसकर कोड़े खा लेते थे। 'भारत माता की जय' बोलते-बोलते फांसीके तख्ते पर चढ़ जाते थे, 'महात्मा गांधी की जय' बोलते-बोलते स्त्रियाँ अपने सिर पर लाठियोंके वार सहन कर लेती थी, 'इन्कलाब जिन्दाबाद' कहते-कहते क्रांतिकारी लोग गोलियों के सामने सीना तान कर खड़े हो जाते थे।

नाम-जप का अर्थ है, ध्येय का जप। महात्मा गांधी का अर्थ है भारतवर्ष की आजादी। राम-नाम का अर्थ है रावण का विनाश और पददलितों का उद्धार, गोपाल-कृष्ण का अर्थ है दैववाद के विरुद्ध विद्रोह और शुद्ध कर्मयोग की महिमा का प्रचार। गोपालकृष्ण का अर्थ है भेदातीत प्रेम; स्त्री, शूद्र, वैश्य सबको समान मानना। 'कार्ल मार्क्स की जय, लेनिन की जय' का अर्थ है सारे श्रमजीवी लोगों का महान् वैभव। इस प्रकार के प्रत्येक नाम में अनन्त अर्थ है। इस एक नामोच्चार में अपार स्फूर्ति है। वह हमारी ध्येय का मूर्तिमान स्मरण है। वह स्मरण हमारी मृत्यु पर सवार रहता है।

फिर अवतारी पुरुष क्यों निर्भय रहते हैं? वज्र को भी मोड़ देने की शक्ति उनमें कहाँ से आती है? अवतारी पुरुष को मालूम रहता है कि मैं अकेला नहीं हूं। 'मेरा' अर्थ है लाखों लोग। मैं उन लाखों लोगों का प्रतीक हूं। मैं लाखों लोगों से जुड़ा हुआ हूं। लाखों लोगों के लाखों हाथ मेरे आसपास हैं। मेरे शरीर को हाथ लगाने का अर्थ है लाखों लोगों के शरीरोंको हाथ लगाना। मेरा अपमान करना मानो लाखों लोगों का अपमान करना है।

क्या महात्मा गांधी अकेले थे? लाखों चर्खों पर सूत कातने वाले लोग उस सूत के द्वारा उनसे हमेशाके लिए बँध गये थे। ग्राम-सेवा करने वाले हजारों लोग गांधीजी के साथ जुड़ गये थे। हरिजन-सेवा करने वाले सैकड़ों भाई गांधीजी के साथ एक हो गये थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता

स्थापित करने वाले साम्प्रदायिक झगड़े मिटाने वाले, शराब-बन्दी करने वाले सब लोग गांधीजी के साथ जुड़ गये थे। इन करोड़ों लोगों की, इस जनता-जनार्दन की सुदर्शन-शक्ति गांधीजी के आसपास घूमती थी। और क्या जवाहरलाल अकेले थे? पददलितों का पक्ष लेने वाले, मदान्ध एवं विलासी लोगों का नशा उतारने वाले, श्रम का महत्व पहचानने वाले, किसान-मजदूरोंके लिए बलिदान करने वाले, उनका संगठन करने वाले सच्चे मानव धर्म को पहचानने वाले और सारे दम्भों को दूर हटा देने वाले हजारों लोग जवाहरलाल के आसपास खड़े रहते थे। और जिनके लिए जवाहरलाल व्याकुल थे, तड़प रहे थे, वे करोड़ों हिन्दू-मुसलमान भाई उनके साथ जुड़े हुए थे। इसीलिये जवाहरलाल के शब्द में तेज था, वाणीमें ओज था और दृष्टि में तेजस्विता थी।

महापुरुष का अर्थ है पुञ्जीभूत विराट जनता। इसलिए बलवान सरकारें भी ऐसे महापुरुषों से झुकी रहती हैं। महापुरुषों का खून गिराना कोई सरल बात नहीं है, संभाजी के खून ने मुगल-साम्राज्य को धूल में मिला दिया। गुरु गोविन्दसिंह के खून ने सिक्ख-साम्राज्य का निर्माण कर दिया।

राजा विराट के दरबार में चौसर का खेल हो रहा था। खेलते-खेलते गुस्से में भरकर राजा विराटने धर्मराज पर पासा फेंक दिया। धर्मराज के ललाट से खून की धार बह निकली। धर्मराज ने उस खून को नीचे नहीं गिरने दिया। सैरन्ध्री एक पात्र लेकर आ-गई, उस पात्र में वह खून इकट्ठा कर लिया गया। धर्मराज से किसी ने पूछा, "आपने अपनी अञ्जलि में रक्त क्यों रखा? यदि वह नीचे गिरता तो उससे क्या हानि होती?" धर्मराज ने उत्तर दिया, 'यदि इस रक्त की एक बूंद भी जमीन पर गिर पड़ती तो विराट का राज्य भस्म हो गया होता।"

अवतारी पुरुषों के रक्त में भी बड़ी शक्ति होती है। ईसा का खून गिराया गया, लेकिन उस खून ने संसार को जीत लिया। कभी-कभी सत्तालोलुप लोग अवतारी पुरुषोंकी इस प्रचण्ड शक्ति को भूल जाते हैं। वे अवतारी पुरुषों का खून गिराते हैं और उस खून के गिरते ही सत्ताधारियों की सत्ता रसातल पहुंच जाती है, यह इतिहास का सिद्धांत है।

अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर ऐसा अवतारी पुरुष जिन्हें देखता है वे धन्य हो जाते हैं। ऐसा अवतारी पुरुष उत्पन्न करने के लिए जो साथ-साथ परिश्रम करते हैं जो एक दूसरे के निकट आते हैं। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, श्रेष्ठ-कनिष्ठ आदि भेदोंको दूर हटाकर कर्म-यज्ञ करते हैं वे धन्य हैं। यह महान् सहयोग है, इस कर्म में सबके लिए मौका है, चाहे पतित हो, चाहे पुण्यवान्, सब प्रयत्न करने के लिए हैं। अपने-अपने छोटे कर्मों से हम महा-पुरुष को जन्म दें। हम कर्मों के पर्वत बनावें, प्रयत्नों के पहाड़ रचें, कण-कण से ही पर्वत बने हैं। सेवा और श्रम के ये पर्व महापुरुष-रूपी जीवनदायी मेघों को खींच लेंगे और समाज सुखी एवं समृद्ध बनेगा।

भारतीय संस्कृति कहती है कि यदि महा-

श्री गुरु-कृपा की धारा

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

अखण्ड मण्डलाकार तेज राशि सच्चिदानन्दघन श्री गुरुदेव की कृपा सहज करुणा से द्रवित होकर शिष्यों का कल्याण किया करती है। जीव के इतने पुण्य-कर्म कहाँ कि वह इस कृपा को अपने कर्मफल के अधिकार से प्राप्त कर सके। यदि कर्मफल ही प्रधान होता तो दीन-हीनों पर उनकी कभी कृपा नहीं होती। पर देखने में आता है कि उन दीनबन्धु को दीन और हीन ही सबसे अधिक प्यारे हैं। सब नहीं, केवल ऐसे दीन व ऐसे हीन जो मन, वाणी कर्म से श्रीगुरुचरणों में न्यौछावर हो गये। जिन्होंने 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई'—इस भाव से हृदय के मन्दिर में अपने प्राणों के प्राण, श्री गुरुदेव को बसा लिया है। उनको बसाना किसके वश की बात है! वे जिस हृदय को अपनी मधुर मुस्कान का एक कण दे दें वही हृदय उनका मन्दिर बन जाता है। जिस स्थान पर उनके चरण-कमल स्थित हो जाँय वह स्थल तीर्थ बन जाता है। उनके वचन शिष्य के हृदय के अविद्या अन्धकार के लिए सूर्य की किरणों के समान है। 'जासु वचन रवि-कर निकर।' ऐसे अनन्त श्री सद्गुरु दयालु को भूमिष्ठ प्रणाम!—

भगवान ने कर्म-फलस्वरूप मनुष्य शरीर देकर कर्म जाल में डाल दिया। धन्य! धन्य! मेरे सद्गुरु दयालु! आपने इस संसार कूप से मुझे निकाल लिया। फिर मैं क्यों न गाऊँ—

लागी लगन मोहि गुरु चरनन की।

भव सागर सब सूख गये हैं, चाह नहीं अब तरनन की। आप को भला मैं कैसे छोड़ दूँ। हरि को छोड़ने से अधिक कुछ नहीं बिगड़ेगा। 'गुरु न तजौं, हरहिं बिसारौं।' आपके चरणों की शरण मेरे लिए कल्पवृक्ष की छाया है। आपके श्री चरणों में मन, बुद्धि चित्त, अहङ्कार सब कुछ न्यौछावर कर दूँ।

पुरुष का जन्म चाहते हो तो पुरुषार्थ मत बैठो, केवल 'हरि-हरि' जपते रहकर खटिया पर बैठे रहने से श्रीहरि का जन्म नहीं होता।

"न हि श्रान्तस्य ऋते सख्याय देवाय।"

यह श्रुति-वचन है जो थके-मांदे है भगवान् उन्हींके मित्र होते हैं, उन्हींकी रक्षा करते हैं। जो परिश्रम नहीं करते, हाथ-पैरों का, हृदय-बुद्धि का उपयोग नहीं करते, ऐसे कर्मशून्य लोगों के लिए भगवान् खड़े नहीं रहते।

अवतारी पुरुषोंको आँखोंसे देखनेसे अधिक सौभाग्य की क्या बात है! ऐसे पुरुष हमारे हैं, हमारी सामर्थ्य हैं। ऐसे पुरुषों को देखने की हमें अधिक इच्छा रहती है। ऐसी विभूति के दर्शनों के लिए आँखें प्यासी रहती हैं। ईश्वरकी महिमा ऐसे लोगोंमें ही मालूम होती है। मानव की महिमा भी ऐसे लोगों में प्रकट होती है। महापुरुष मानव की शक्ति दिखा देते हैं। मनुष्य कितना ऊँचा जा सकता है यह बात भी महापुरुष ही दिखा देते हैं।

भारतीय संस्कृति का अर्थ है प्रयत्नों की पराकाष्ठा, अमर आशावाद और करोड़ों छोटे-बड़े लोगोंका सहयोग। अवतार-कल्पना में इन सब बातों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

फिर भी आपसे उऋण नहीं हो सकता। हाँ, मेरे सिर के ऊपर जो कर्म और संस्कारों का भार रखा है वह अवश्य हल्का हो जावेगा।

सद्गुरु चरनन में धरो,
चित्त, बुद्धि, मन, अहङ्कार।
जब कुछ आपा ना रहे,
उतरे सब ही भार॥

समर्पण का मैं अभिमान अवश्य करता हूँ। पर समर्पण कहाँ हो पा रहा है। अनेक जन्मों की वासना सरलता से पीछा छोड़ने वाली कहाँ? समर्पण के लिए पूर्ण श्रद्धा चाहिए। श्रद्धा तब हो जब जीवन में तप और सदाचार हो, सतोगुण हो। मुझमें इतना तत्वज्ञान कहाँ कि मैं असत् वस्तु को पहचान सकूँ। उसमें मेरी दोष दृष्टि हो जाय और उससे मेरा पिण्ड छूट जाय। इसीलिए बार-बार आपकी कृपा चाहता हूँ। सुना है-श्रद्धावान्, अभ्यास परायण तथा संयमी ज्ञान का अधिकारी होता है। मुझमें इस प्रकार की पात्रता आपकी कृपा कोर से भले ही आ सके। मैंने अपना हिसाब-किताब देखा है, दिवालिया हूँ। 'नहि विद्या, नहि बाहुबल।' श्रद्धा की बात मैं नहीं कर सकता, हाँ मुझे आपकी अपार करुणा कृपा का पूर्ण विश्वास है। नाथ! मेरे विश्वास की आप परीक्षा मत करने लग जाना? कलई खुल जायगी। मैं अपने इस दम्भ से कुछ-कुछ जीवित हूँ। मीरा का समर्पण कमाल का था। उसने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। वह तो प्रेम की मतवाली होकर दीवानी होकर लोक-लाज और कुल कानि छोड़कर जोगिन बन गई। शायद उसकी पीर, उसकी विरह वेदना नटवर नागर से देखी नहीं गई और उनको प्रकट होना पड़ा। बड़ी मुश्किल से कभी मेरे हृदय में मीरा की तुलना में समुद्र में बूंद जैसी कोई तड़प अगर उठ जाये तो आप से मेरे आँसू देखे नहीं जाते। आप हृदय में अपना वरदहस्त दिखाकर मुझे अभय का दान दे जाते हैं। फिर भला कैसे न विश्वास करूँ आपकी अहेतुकी कृपा पर?

आपके कमल-चरणों के नख के स्मरण करने से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। आपकी कृपा से प्रज्ञा और ज्ञान के चक्षु खुल जाते हैं। जिससे योग की विधि दृष्टि गोचर होने लगती है। ज्ञान के मार्ग से चलने पर वाद और वितण्डा, भ्रम और संशय के कुएँ और खाइयाँ हैं। ज्ञान में कर्त्तव्य अभिमान जो है! जिसे ज्ञान से जानेंगे वह ज्ञान का विषय आत्मा नहीं वस्तुरूप होगा। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने भयभीत कर दिया यह कहकर— 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।' ज्ञानी बनकर अनेक जन्मों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, तब आत्म-कल्याण होगा। अनेक जन्मों तक प्रतीक्षा कौन करे? आपकी कृपा से इसी जन्म में ज्ञान, योग और भक्ति-मार्ग के सभी रहस्य ज्ञात हो सकते हैं और सच्चिदानन्द के दर्शन सुलभ हो सकते हैं। आयु के अन्तिम क्षण भी दुःख की मेरे पास छाया नहीं आ सकती। आपकी कृपा मेरे प्रारब्ध का विधान बदलने में पूर्ण समर्थ है। ऐसी स्थिति में मैं मन्दभागी डरता हूँ, सद्गुरु

चरणों में सर्वस्व निछावर करने में और आपके आदेशको सन्देहरहित होकर तत्परता से माननेके लिए कमर कसने से ? मेरी समझ पर आपको रहम खाना पड़ेगा। मुझे अपने चरणारविन्दों का चातक बना लेना। आपकी कृपा की स्वाति-बूंद के लिए, जिससे मेरे चातक मन व्याकुल बना रहे और कभी आपका विस्मरण न हो सके। मुझमें दयालु इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि मैं आपके विराट-स्वरूप को अपने हृदय में जगह दे सकूँ। आपको कृपा कर मुझे अपना बनाना पड़ेगा। मुझमें शिष्यत्व कहाँ? गुरु-शिष्य सम्बन्ध, हृदय से हृदय का सम्बन्ध है। जब हृदय, हृदय से जुड़ जाता है, तभी गुरुदेव के हृदय से तत्त्व-ज्ञान, कृपा की धारा, गाय के थनों से जैसे बछड़े के लिए दूध की धारा निकलती है, उसी प्रकार स्वतः निःसरित होती है। गाय को बछड़ा और माँ को बेटा अत्यन्त प्रिय होता है, उसी प्रकार गुरु को शिष्य अत्यन्त प्रिय होता है। इन जैसा अनन्य भाव मैं कहाँ से लाऊं? माता वात्सल्यमयी ममता से पुत्र को प्राप्त करती है। पुत्र भी फिर खिलौने से कहाँ बहलता है। 'माँ-माँ' कहकर रोकर खिलौने को दूर फेंककर माँ की गोदी के सिवाय और कुछ नहीं चाहता। ऐसी चाह मेरा संसारी मन कैसे पैदा करे। प्रभुजी! 'छूह कारज नाना जंजाला' आपके आदेश का पालन करना चाहता हूँ पर न जाने प्रमाद कहाँ से मेरे मन को ताकत दे देता है और मन अपनी मनमानी करने लगता है। किस मुँह से मैं कहूँ कि आपका शिष्य हूँ?

दम इश्क का भरने वालों को,
घरबार लुटाना पड़ता है।
इनकार तो करना क्या है,
लब तक न हिलाना पड़ता है॥

आपकी कृपा का वर्णन शास्त्र और सन्त सभी करते हैं। ऐसा न हो कि प्रत्यक्ष अनुभव न हुआ हो? फिर भी आपके चरणोंकी कृपा की घन-घटायें देखकर मेरे मन रूपी मोर नाचने से क्यों संकोच करता है?

आपकी कृपासे देर और दूरी दोनों समाप्त हो जाती हैं। समर्थ सद्गुरु के चरणारविन्दों में अनन्य शरणागति होने पर बन्दे को परम-प्रसाद रूप में शान्ति और शाश्वत पद प्राप्त होता है। नचिकेता शरणागति था और उसमें जिज्ञासुभाव था। उसमें ब्रह्म-विद्या के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहा। हम तो आपसे अपनी हर चाह पूरी करना चाहते रहते हैं। अर्जुन को भगवान् ने बहुत समझाया, किन्तु उसकी समझ में दृढ़ता से नहीं आ पाया तो अन्त में सद्गुरु रूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"मामेकं शरणं व्रज।" हे पार्थ! तू मेरा अनन्य शरणागत बन तभी तेरा कल्याण होगा। अभी मेरे मन में शब्द-वासना विद्यमान है। जब तक शास्त्रों की गवाही नहीं मिल जाती तब तक आपकी शरण में जाते हुए झिझकता हूँ। आपकी कृपा अहर्निश बरसती है। पर "ऊसर बरसहि तृण नहीं जामा।" जहाँ बीज ही न हो वहाँ बरसातसे क्या होगा?। अपने पास श्रद्धा और तप के बीज थे, वे बावले किसान की तरह पहले ही

निःशेष कर दिये जो खेतीमें बोने के बीज को खाकर खत्म कर देता है।

यह ठीक है कि कृपा का अधिकारी प्रशांत चित्त और शम-दम आदि साधन-सम्पन्न ही होता है। सनत्कुमार ने नारद के ऊपर ये सब गुण देखकर ही कृपा की और उसने उन्हें ब्रह्म-विद्या का तत्व-बोध दिया। श्रीकृष्ण रूप में आपने अर्जुन पर कृपा की। उसे दिव्य-चक्षु देकर अपने योगैश्वर्य का विराट रूप दिखाकर 'करिष्ये वचनं तव' मैं अब आपके वचनों का पालन करूँगा' यह स्थिति उसे प्रदान की थी।

अर्जुन तो सीधा-साधा था, इसलिये उसे आपने कृपा का अधिकारी बना लिया। 'ऋजुत्वादर्जुनः' इस व्युत्पत्ति से अर्जुन नाम उसी का है जो ऋजु अर्थात् सीधा हो, सरल हो। दूसरी व्युत्पत्ति है अर्जनात् अर्जुनः। जो सद्गुणों को अर्जित करने के स्वभाव वाला हो वह अर्जुन होता है। यह भी ठीक है कि सर्प भी अपने दिल में सीधे हुए बिना प्रवेश नहीं कर पाता, पर मैं तो गुण-ग्राहक या सरल भी नहीं—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जेही तन दियो ताहि बिसरायो,
ऐसे नमक हरामी॥

डाक्टर का और मरीज का कृपा का ही तो सम्बन्ध है। मेरी दवा आपकी कृपा के बिना और कोई दूसरी औषधि नहीं है। शास्त्र की बात सुनकर डर लगता है। जो शिष्यके गुण नहीं रखता तथा जिसमें वैराग्य भाव प्रबल नहीं है उस पर कृपा की भी जाय तो वह उसी प्रकार से होता है, जैसे कुत्ते की खाल से बने हुए पात्र में गाय का दूध रखा जाय, उससे दूध अपवित्र ही तो होगा—

अशिष्यायाविरक्ताय,
यत्किञ्चिदुपदिश्यते।
तत्प्रयात्यपवित्रत्वं,
गोक्षीरं श्वदृतौ यथा॥

शिष्य बनना बड़ा कठिन है। जो शिष्य बन जाता है वह गुरु ही हो जाता है। गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करले, ऐसा कोई विरला प्रभु का लाड़ला होता है। हे गुरुदेव! आपने स्वयं अपने उदाहरण से गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करने का पाठ हम सबको पढ़ाया है, फिर भी हम लोगों को पाठ याद नहीं हुआ। आनन्दकन्द श्रीप्रभुजी ने आपको आदेश दिया—"……योग-प्रचार से दीन-दुःखियों का कल्याण करो।" आपने सोचने-विचारने में देर नहीं की। अपने पूरे यौवन, धन, सम्पत्ति तथा सुख-सुविधा को तिलांजलि देकर अनवरत घूम-घूमकर सोती हुई, भटकती हुई संस्कारी आत्माओं का कल्याण करने के लिए नगर-नगर में अलख जगाते हुए आप थकते नहीं। हम आपके उदाहरण से कुछ नहीं सीख पाये। "मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंचि सम।" गुरुदेव की कृपा का पात्र वही बन सकता है जो आत्म-कृपा का पात्र होता है।

शरणागत भाव से पात्र को सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ सब कुछ सहना

पड़ता है। सूर्य का प्रकाश यद्यपि मिट्टी के ढेले, दर्पण और पत्थर पर समान रूप से पड़ता है जिससे शीशेमें ही प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, पत्थर और मिट्टी में नहीं। गाय के सम्मुख बछड़ा आते ही उसके थनों में से दुग्ध की धारा स्वतः निःसरित होती है। उसी प्रकार शिष्यत्व के होने पर गुरु के हृदय से कृपा की धारा स्वयं निकलती है, लेकिन शिष्य बनना बड़ा कठिन है। शिष्यत्व आ जाय तो कृपा की नहीं जाती, कृपा हो जाती है। जिस प्रकार प्यार किया नहीं जाता स्वतः हो जाता है।

गुरुदेव की कृपा का सौदा बड़ा सस्ता है। सन्त तो ऐसा कह गये है कि—"शीश कटाये जो गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।" इतना सस्ता सौदा होने पर भी मेरा मन व्यापार से पीछे क्यों हटता है। थोड़े से घर के सुख छोड़ने से, नींद छोड़ने से, अधिक क्या तनिक सेवा से गुरुदेव प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी कृपा-वृष्टि होने लगती है, फिर भी यदि आलस्य का त्याग न कर सकूँ तो वृथा—'कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय' को सार्थक करने पर तुला हुआ है, ऐसा ही लगता है।

एक बार गुरु-चरणों में अपने सिर को अर्पित करके तो देख रे मन! हरिहरानन्द ने अपना सिर श्री गुरु चरणों में अर्पित किया तो तत्काल उन्हें तत्व विजयी योगी श्रीप्रभुजी ने बना दिया। क्या तेरा भाग्य ऐसा नहीं है? श्री गुरुदेव धोबी है, इसलिए रे मन! चिन्ता मत कर। यदि तू स्वयं इस कपड़ेको धोयेगा तो मैल नहीं छूटेगा प्रत्युत कपड़ा फट जायेगा। श्री गुरुदेव काया रूपी कपड़े को सत्यनाम के साबुन से मलमल कर ऐसा धो देते हैं कि देखने वाले हैरान रह जाते है। श्री सद्गुरुदेव कुम्भकार के समान कुशल निर्माता है। कुम्भकार गीली चिकनी मिट्टी को रौंद-रौंदकर चाक पर घुमाकर हाथका सहारा देकर मिट्टी को घड़े का आकार दे देता है। फिर उसे अन्दर हाथ का सहारा देकर बाहर से ठोक पीटकर सुडौल बनाता है, फिर आग में पका कर तैयार करता है, उस घड़ेमें पानी ठहरता है। सद्गुरुदेव शिष्य के पांचभौतिक शरीर को (मिट्टी को) संसार के परिवर्तन चक्र पर चढ़ाकर आदेश के डंडे से उस चक्र को घुमा कर प्रेमरूपी हाथ का अन्दर सहारा देकर बाहर से महर की थापी और संयमोंकी चोट मार-मारकर शिष्य के अहं की बेडौलता को मिटाकर यन्त्रणाओं की भीषण आग में तपा कर अपने स्वरूप का रंग चढ़ाकर उसे पूर्णता प्रदान करते हैं।

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है,
घड़-घड़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे,
बाहर मारै चोट॥
—कबीर

सद्गुरु कुशल रंगरेज है, जो अपने रंग में शिष्य के मन को रंग देते हैं। "सतगुरु हैं रंग-रेज, चुन्दर मेरी रंग डाली।"

एक संत कहते हैं कि सद्गुरु कृपा प्राप्ति का साधन सत्संग और सत्य आचरण है—

अन्तर्जगत की यात्रा-ध्यान

❀ श्रीमती सरिता 'भारद्वाज'

मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों के द्वारा बाह्य संसार से जो सम्बन्ध बना लिया है, उससे बाहरी जगत् के कुछ बिम्ब उसके चित्त में संस्कारों के रूप में अङ्कित हो गये हैं तथा प्रतिक्षण निरंतर बिम्ब बन रहे हैं। बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा निर्मित संसार मनुष्य के सुख-दुःख का कारण बना हुआ है। यह संसार यद्यपि हमारी अपनी वृत्तियों का ही खेल है। शून्य में जैसे चित्र बना दिया जाय या रस्सी में सर्प भासित हो जाय: उसी प्रकार स्वतन्त्र सत्ता शून्य होने पर भी यह संसार स्वप्न की दशा में देखे गये घटना-चक्र सा मिथ्या सुख-दुःख का जनक है। जागे हुए पुरुष को स्वप्न का दुःख मिथ्या लगता है, उसी प्रकार ध्यान के द्वारा चैतन्य में पूर्ण सजग हुए योगी को यह संसार वृत्तियों का खेलमात्र लगता है। सिनेमा के पर्दे पर ध्वनि और प्रकाश की तरंगों से जैसे अनेक दृश्य उपस्थित हो जाया करते हैं, उसी प्रकार वृत्तियों का प्रवाह ही जगत् रूप बन जाता है। ध्यान वृत्तियों के बिम्बों की पहचान है और भीतर से जागने की एक प्रक्रिया है। ध्यान के द्वारा वृत्ति अन्तर्मुखी होकर मनकी एकाग्रता द्वारा भीतर के संसार की यात्रा प्रारम्भ होती है, जिसके सविचार, निर्विचार, सविकल्प, निर्विकल्प, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत एवं स्वरूप-प्रतिष्ठा के पड़ाव हैं; जहाँ योगी ठहरता हुआ यात्रा की थकान मिटाता हुआ—निरन्तर आगे चलता रहता है। यह यात्रा तब तक चलती रहती है जब तक संचित और प्रारब्ध कर्मों का पूर्णक्षय नहीं हो जाता। कर्म संस्कारों का क्षय होने पर चित्तवृत्तिनिरोध योग उपलब्ध होता है। यह अभावात्मक स्थिति नहीं है अपितु विधेयात्मक है। 'तदा-द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू० १/३ में यह स्पष्ट किया है कि ध्यान से इन्द्रियों तथा

ज्ञानी पण्डित चतुरा, इनसे मेलो दूर।
एक साँच हृदय रखो, सद्गुरु मिले जरूर॥

सत्संग के प्रभाव से जब मनरूपी खेत बीज बोने के काबिल हो जाता है, तब सद्-गुरु कुशल किसान की भाँति कृपा कर बीज बोने के लिए प्रकट हो जाते हैं। बीज बोने के बाद समय-समय पर वे उसकी निराई, कटाई, छटाई, जल-सिंचन और रखवाली भी उस समय तक करते रहते हैं जब तक फसल पककर घर में नहीं आ जाती।

ज्ञानेश्वरजी महाराज इसलिए कहते हैं कि कृपा चाहने वाले को गुरु-सेवा करनी चाहिए। गुरु-सेवा सम्पूर्ण भाग्य की जन्म-दात्री है। शिष्य को गुरु-सेवा के स्नेह जल की मछली बन जाना चाहिए। उसे गुरुदेव के लिए पादुका बन जाना चाहिए। अपने हृदय को उनका पवित्र सिंहासन बनाकर अपने सिर को नारियल बना शरीर की अग-रबत्ती और भक्तिभाल का चन्दन लगाकर प्रेम के दीपक से उनकी आरती उतारनी चाहिए। विश्वास रख मेरे मन! गुरु-कृपा की धारा मेरा कल्याण अवश्य करेगी। ❀

उसके स्थूल सूक्ष्म विषयों, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार तथा मूल प्रकृति का साक्षात्कार करता हुआ योगी समाधि मार्ग से अपने द्रष्टा एवं पूर्णचेतन नित्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। उस अवस्था में गुण वृत्ति तथा संस्कारों का आघात-प्रतिघात सर्वथा और सर्वदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। उस कूटस्थ अवस्था में पहुँचकर योगी निर्विकार तथा निरंजन दशा में स्थित होता है। वहाँ पर उसकी जन्म-मरण तथा सुख-दुःख की कहानी बननी बन्द हो जाती है। किन्तु यात्रा का पूर्ण विराम निर्वाण तथा शान्ति में होता है। 'निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते'—गीता १८/५३। अर्थात्—यह ब्राह्मी स्थिति है जहाँ जीव-भाव और उसके गुण-धर्म—काम-क्रोध-परिग्रह आदि भूमात्व में विगलित हो जाते हैं। जीव जब तक गहरे में पैठकर अपने मूल उत्स से नहीं जुड़ता तब-तक यात्रा पड़ीयन्त्र की तरह या यों कहिये कोल्हू के बैल की तरह चलती ही रहती है।

थका-माँदा व्यक्ति अपने प्रिय से प्रिय पदार्थों और सम्बन्धियों को छोड़कर निद्रा की शरण लेकर स्वास्थ्य तथा स्फूर्ति प्राप्त करता है। ध्यान द्वारा कर्म-जंजाल की अशान्ति और तनाव से मुक्त होकर उसी प्रकार मनुष्य मानसिक स्वास्थ्य लाभ कर समभाव की स्थिति की ओर अग्रसर होता है। वहाँ हानि-लाभ, सुख-दुःख शीतोष्ण आदि द्वन्द्वज परिस्थितियाँ मन को विचलित नहीं कर पातीं। जो निरन्तर तनाव, चिन्ता, व्याकुलता तथा प्रारब्ध के थपेड़ों से मर्माहत रहते हैं उनके लिए ध्यानयोग से उत्तम न नींदकी गोलियाँ है, न सिनेमा या दूसरी कोई मनोरंजन की क्रियायें हैं। ध्यानजनित नशा शराब हेरोइन तथा स्मैक से हजार गुना उत्तम है। अन्य प्रकार के नशों में जब नशा उतरता है तब शरीर और मन टूटने लगता है और व्यक्तिमें कार्य करने की सामर्थ्य क्षीण होने लगती है। जबकि ध्यानयोग-परायण व्यक्ति में थकान का नाम नहीं होता। एक अनोखी मस्ती, अन्दर की प्रसन्नता, उत्फुल्लता, उत्साह और कर्मों में सुव्यवस्थित प्रवृत्ति होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि कर्म करते हुए निःसंगता (Detachment) के भाव का विकास होता है। जीवन में पवित्रता, प्रसन्नता, भावोंकी स्थिरता तथा शान्ति के झरने बहने लगते हैं। ध्यानजनित सुख वही जान सकता है जो उसका स्वाद चख लेता है। इस स्वाद के आगे संसार के सारे स्वाद और सारे आकर्षण फीके नजर आते हैं।

निद्रा और भोजन की तरह ध्यानयोग का नित्यप्रति अभ्यास करने की आवश्यकता है। गीतामें भगवान् योगेश्वर कृष्ण का आदेश है-'ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।' प्रतिदिन ध्यानयोग का अभ्यास करे तथा वैराग्य की उपासना करता रहे तो शनैः-शनैः उस साधक के मल, आवरण और विक्षेप हटते जाते हैं और वह स्वरूप प्रतिष्ठा तथा प्रकृति-पुरुष विवेक की ओर बढ़ जाता है। ध्यानजनित सुख अनिर्वचनीय आनन्द का

दाता है। उसकी खुमारी जिन्दगी को तरो-ताजा बना देती है। ध्यान में जब परदे उठते जाते हैं और समुद्र तथा आकाश की भांति विशाल अनन्त प्रकाश सामने आता है तो साधक प्रकाशमें जगमगा उठता है। वह मद-मस्त हाथी की तरह ध्यान खुमारी में झूमने लगता है। ध्यान में जब अपने प्राण-प्यारे आराध्य इष्टदेव के दर्शन हृदय-कमल में झलक मिलती है तो योग साधक अपने को शहंशाह समझने लगता है। क्यों न समझे ? यदि कोई राष्ट्रपति से मुलाकात कर आता है तो वह अपने को धन्य और बड़ा समझने लगता है। जब दीन-दुनिया के मालिक इष्ट-देव गुरुदेव की हल्की सी झलक ध्यानमें मिल जाती है तो खुशी का कहना क्या ? "दीदार दिलरुबा का दीवाल कह कहा है।" किसी सूफी शायर ने इष्ट के दर्शन की खुशी की बुलन्दी को कहकहे की दीवार की उपमा दी है। जिस प्रकार संस्कृत के महान कवि कालिदास ने हिम-धवल हिमालय की समा-नता भगवान् सदाशिव के राशिभूत अट्टहास से दी है। एक सूफी शायर ध्यान के आनन्द अनिर्वचनीय और अलौकिकता का वर्णन उन लोगों को धिक्कार कर कहता है, जिन्होंने कभी इसके सुख को पाना नहीं चाहा या जिन्होंने ध्यान का कभी आनन्द नहीं लिया। शायर कहता है—

लुत्फे मय तुझसे क्या कहूं साकी।
हाय ! कम्बख्त तूने पी ही नहीं ॥

ध्यान से चेतना का विराट द्वार खुलता है। यह होशपूर्ण बेहोशी है। यह मरकर जीवित होने की क्रिया है। ध्यान में हमारी चेतना के सभी केन्द्र जाग्रत होने लगते हैं। प्राण, इड़ा-पिंगला से हटकर गहरे में मध्य नाड़ी में चलने लगते हैं, यहीं से योग की यात्रा प्रारम्भ होती है। ज्यों-ज्यों मध्य-मार्ग में प्राण सञ्चार होता जाता है त्यों-त्यों चेतना ऊर्ध्वमुखी होती जाती है और जीवन में भव्यता आती जाती है। शिव सूत्र में कहा गया है—'मध्यविकाशात् चिदानन्द लाभः।' मध्यनाड़ी ऐश्वर्य, आनन्द तथा निर्वाणप्रद नाड़ी है। मध्यनाड़ी में चित्रानाड़ी है और वज्रानाड़ी है। इनके मध्य में-अन्तर में सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ी है। चित्रा में प्राण-संचार होने पर रहस्यात्मक जगत के ध्यानानुभव होते रहते हैं। वज्रानाड़ी में प्राण संचार होने पर जड़ता और शून्यता व मूर्च्छा आ जाती है। जो सा :क मनमुख होकर साधना करता है उसके प्राण वज्रा या चित्रा में चले जाते हैं, किन्तु जो साधक गुरुमुख होकर गुरुदेव को समर्पण साधना करता है उसके प्राण गुरु-पद में स्थित गुरुदेव की अनुग्रहात्मिका शक्ति द्वारा ब्रह्मनाड़ी के मार्ग से आज्ञापद्म तथा बिन्दु-नाद चक्र से होकर सहस्रार की ओर चल पड़ते हैं।

ध्यान अपने मूल स्रोत की ओर, बाहर से भीतर के जगत में जाने की यात्रा है। ध्यान द्वारा मन आनन्द के आलम्बन से जुड़ कर एकरस हो जाता है। शैव-दर्शन में इसे साम-रस्य कहा गया है। मन और इन्द्रियों की

निःस्तब्ध, शान्त, मौन अवस्था का नाम ध्यान है। 'ध्यानं निर्विषयं मनः', 'ध्यानाच्च' इस ब्रह्म-सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर तैलधारा की भाँति एक ही प्रत्यय के सदृश प्रवाह को ध्यान कहते हैं। यह प्रवाह निजानन्द का प्रवाह है, चेतना के प्रवाह की अनुभूति का प्रवाह है। इन्द्रियाँ जब चेतना को बाहर फेंकती हैं तो वह विषयेन्द्रिय संयोग होकर भोग कहलाता है। भोगों का फल परिणाममें दुःख होता है। परिणाम, संस्कार और गुणों में भोग दुःख के सिवाय कुछ नहीं है। भोगों को भोगते-भोगते हम स्वयं ही चुक जाते हैं। भर्तृहरिजी महाराज ने ठीक ही कहा है-'भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः।' भोग ज्यों के त्यों बने रहते हैं, किन्तु हम शक्तिहीन हो जाते हैं और न भोग सकने के सन्ताप से हम अपने अन्दर ही अन्दर दग्ध होते रहते हैं।

जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होती हैं तो अन्दर के नजारे प्रकट होते हैं। उसमें हमारे संकल्प इच्छा शक्ति के आकर्षण तथा आरोहण के सोपान ऊर्ध्वमुखी होते हैं जिनमें मन और बुद्धि का दखल कम होता जाता है। अन्दर देखने से चेतन से परे सूक्ष्म में अवचेतन तथा अचेतन स्तरों में छिपे संस्कार शनैः शनैः उभरकर साधक के सामने आते रहते हैं। यह संस्कारों का भोग कहलाता है। बाहर के भोग से जो भोग के साथ नये-नये अन्य संस्कार भी तैयार होते रहते हैं किन्तु अन्तर्मुखी निवृत्ति परायण वृत्ति से उपपन्न भोग नये संस्कारों को जन्म नहीं दे पाते अपितु भोग द्वारा संस्कार क्षय तथा मनोनाश होकर विज्ञान का उदय होने लगता है। इसीलिए योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने अन्तर्जगत और बाह्य जगत के इन दो विभागों के दो अलग-अलग फल बतलाये हैं। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—यह दृश्य प्रपंच बाहर तो भोग का जनक होता है। जब उसे ध्यान द्वारा उलट कर देखा जाता है तो अन्तर्जगत का दृश्य मोक्ष का जनक बन जाता है। इसी से पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है। तनाव से छुटकारा, संशय-भ्रम से छुटकारा, प्रमाद-आलस्य से छुटकारा—सभी प्रकार की स्वतन्त्रता ध्यान से मिलती है। जीवन की सचाई का पता गहरे में बैठकर ध्यान करने से मिलता है। केवल कर्म और प्रवृत्ति परायण व्यक्ति कर्म-जाल में उलझते-उलझते भ्रान्ति में पड़ जाता है। कर्म शृंखला से कभी-कभी अपने आपको हटाकर (With draw) करके तटस्थ द्रष्टाभाव से कर्म प्रवाह को देखने से स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव तथा भावनात्मक तनाव कम होने लगते हैं। स्वास्थ्य में चमत्कारिक लाभ होता है। उच्च या निम्न रक्तचाप (Blood pressure) सामान्य हो जाता है।

ध्यान योग परायण होने पर ध्येय वस्तु के गुणों की तरंगें चारों ओर व्याप्त होने लगती हैं। जिस रूप तथा स्वरूप का ध्यान किया जाता है उसके परमाणु अन्दर और बाहर फैलने लगते हैं। उनसे साधकके चारों-

और एक क्षेत्र (field) बन जाता है। उस क्षेत्र में जो कोई आ जाता है उसके मन पर भी उन व्याप्त परमाणुओं का प्रभाव होता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने ऐसा कथन किया है कि जिस स्थान पर ध्यान योगी रहता है वह स्थान और ध्यान योगी के बन्धुबान्धव सभी पवित्र हो जाते हैं।

यस्मिन् देशे वसेद् योगी
ध्यानयोग विचक्षणः।
सोऽपि देशो भवेत्पूतः
किं पुनस्तस्य बान्धवाः॥

ध्यान से मानसिक शक्तियों का जितना विकास होता है उतना अन्य किसी क्रिया से नहीं होता। प्रायः देखा जाता है जो जितना बड़ा विद्वान् है वह उतना ही अशान्त एवं दिग्भ्रमित (Confused) है। शिक्षा के साथ-साथ यदि ध्यान योग का अभ्यास कराया जाय तो शिक्षा जीवनके लिए अधिक उपादेय बन सकती है। गोस्वामी तुलसीदास विवेकज्ञान से रहित विद्या को बन्धन का कारण मानते हैं। 'विद्या बिन विवेक उपजावे।' ध्यान के बिना बुद्धि में विवेक कैसे होगा? वाद-विवाद, तर्क और चिन्तन से बुद्धि सूक्ष्म चिन्तन की क्षमता वाली तो बन सकती है किन्तु तत्त्वबोध तथा तत्व का साक्षात्कार बिना ध्यान योग के नहीं हो सकता प्रायः लोगों में गलत धारणा व्याप्त है कि किसी काम को लगन और तल्लीनता से करना भी ध्यान है। यह कार्य में दक्षता तो हो सकती है ध्यान नहीं। विचार या कर्म ध्यान नहीं है। ध्यान मन की शान्त और आत्मोन्मुखी वृत्ति का नाम है। इसमें अन्दर आनन्द और प्रकाश की स्थिति होती है तथा सभी इन्द्रियाँ आनन्द के सागर में डूबकर अपने-अपने विषयों से उपरत हो जाती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ध्यान प्रक्रिया को निर्वात स्थान में जलते हुए दीपक की समानता दी है। 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता योगिनो यत चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।'—

आज के भौतिकवादी समाज की अशान्ति का सबसे बड़ा कारण है कि वह अपनी काम क्रोध, लोभ, मोह की वृत्तियों को बाहर फैलाना तो जान गया है, उनको समेटना नहीं जान पाया। इसीलिए वह अपने जाल में खुद फंस जाता है। ध्यान योग बाहर से अपने को कैसे समेटा जाय, यह सिखाता है। हम दुःखी इसलिए नहीं है कि बाहरी परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल हैं। बाह्य परिस्थितियाँ कुछ हद तक कारण हो सकती है, किन्तु अधिकतर हमारे दुःख का कारण यह है कि हम अपने को उन परिस्थितियों के साथ जोड़ने लगे हैं। उनसे अपने को अलग करना हम नहीं सीख पाये। कार से यात्रा करने पर पैदल की अपेक्षा शीघ्र पहुँचा जा सकता है किन्तु चालक के हाथ में कार का स्टेअरिंग तथा ब्रेक रहने चाहिए और उसे यह भी आना चाहिए कि गाड़ी को कब किधर मोड़ना है और कैसे कहाँ रोकना है। आज मनुष्य बेरोकटोक बेलगाम अपनी

इन्द्रियों से विषय भोग कर सुख चाहता है। चेतन से भिन्न में सुख नहीं होता, घर, कार और पदार्थों की प्रीति एकतरफा प्रीति है। हम उन्हें चाहते हैं, किन्तु वे में नहीं चाहते। हमारी घड़ी कहीं गिर जाती है तो हम दुःखी होते हैं, किन्तु घड़ी दुःखी नहीं होती। ऐसी एकतरफा मुहब्बत से क्या लाभ ? प्रेम में प्रतिदान होता है। जिससे हम प्रेम करते हैं, वह भी हमें प्रेम करे तब तो मजा है। जड़ पदार्थों की प्रीति बालू की भीति के समान धोखा है। ध्यान द्वारा हम अपने नित्य चेतन इष्ट स्वरूप से दिल लगाना सीखते हैं। उसके बदले जितना हम ध्यान करते हैं, वह भी हमसे प्रेम करने लग जाता है और हमारी चिन्ता तथा परवरिश वह करने लगता है। एक प्रार्थना में लोग गाया करते हैं—

इस जीवन का सब सौंप दिया,
प्रभु भार तुम्हारे हाथों में।
है जीत तुम्हारे हाथों में,
है हार तुम्हारे हाथों में॥

केवल वाचिक कथन या वाणी के ज्ञान से प्रभु हमारे भार को स्वीकार नहीं करते। 'उनसे मिलने का पता खुदके खो जानेमें है।' खुद का खोना और उनसे मिलना एक साथ दोनों क्रियायें ध्यान से ही सम्पन्न होती हैं। तब हमारी प्रार्थना स्वीकार होती है और प्रभु हमारे योग-क्षेम का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। जैसा कि गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्,
ये जनाः पर्युपासते।
तेषाम् नित्याभियुक्तानाम्,
योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अतः ध्यान का प्रारम्भ प्रत्याहारपूर्वक इष्ट धारणासे होता है और उसका पर्यवसान समाधि में होता है।

यदि कोई ईश्वर को न माने तो भी उसके लिए ध्यान परम उपयोगी है। ईश्वर को न मानने वाला नास्तिक नहीं होता, क्योंकि वह अपने को तो मानता ही है। किसी न किसी के अस्तित्व में विश्वास करने वाले को भला नास्तिक कैसे कहा जा सकता है ? नास्तिक व्यक्ति भी जब ध्यान करेगा तो उसमें आत्म-विश्वास दृढ़ होगा। विचार में सुलझाव आयेगा, वह अपने आपसे अन्दर ही अन्दर संघर्ष करना छोड़ देगा। शनैः शनैः उसका मानसिक स्वास्थ्य अच्छा बनेगा, जिससे वह विषम परिस्थितियों को मुस्कराकर झेल लेगा। न उसका हार्ट-फेल होगा न ब्लड-प्रेशर बढ़ेगा और न आत्म-हत्या करेगा तथा अनिद्रा का शिकार भी नहीं रहेगा। बाहर से हमें उतना नुकसान नहीं होता, जितना अन्दर से अपने भय और संत्रास के विचारों के परिणामस्वरूप होता है। ध्यान से पीनियल और पिटीच्यूटरी ग्रन्थि का स्राव सक्रिय एवं समानुपातिक होने से काम एवं क्रोध की मात्रा भी घट जाती है। बाहरी आकर्षण एवं आलम्बन पर मन अधिक देर नहीं ठहर पाता। ध्यानी अपने ही अन्दर गहरे में डूबने

लगता है, क्योंकि "उनको पाने का मजा, खुद को खो जाने में है।" किसी सूफी कवि ने ध्यानयोग की परिणति में अद्वैत स्थिति का बड़ा सुन्दर भाव इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

उनको ढूँढते-ढूँढते खुद खो गया मैं।
जिसको खोजता था वही हो गया मैं॥

बन्दा कोरे ज्ञान से खुदा की तरह या खुदा नहीं बनता, बल्कि ध्यानयोग से बन्दा ही खुदा हो जाता है। जो ईश्वर को न माने, उसे मानसिक स्वास्थ्य और शान्ति तो अवश्य मिलते हैं। विचार और क्रिया-शुद्धि तथा विवेक-ज्ञान होता है। वैज्ञानिक बताते है कि ध्यान में अल्फा-तरंगें अधिक बढ़ जाती है। जब मन चेतन रहता है उस समय विश्राम की अवस्था में अल्फा-तरङ्ग ८ से १३ प्रति सेकैण्ड परिमाण में आप्त होती है। बीटा-तरङ्ग मन की क्रियाशील स्थिति में १४ से ३० प्रति सेकैण्ड होती है। तन्द्रा और नींद में २ से तीन प्रति सेकैण्ड डैल्टा-तरंगें होती है। ध्यानावस्थित व्यक्ति का मस्तिष्क चार्ज हो जाता है। उस समय उसके चारों ओर एक आभा-मण्डल (Auro) बन जाता है। जैन-दर्शन उसे लेश्या-तरङ्गों के रूप में मानता है। नील, कृष्ण, कपोत और लेश्यायें मन की तामसी, रजोगुणी एवं सतो-गुणी अवस्था की द्योतक होती हैं।

—◎◎—

—❀ अमृत-कण ❀—

—हे प्रभु! पुत्र पिता के अनुकूल और मातृभक्त हो, पत्नी पति से नम्र बोले तभी नैतिकता स्थिर रह सकती है।

—'कर्म करना आपके वश में है, फल प्रभु के हाथ में।' स्व का स्वन, अनुशासन, पुरुषार्थ तभी आयेगा जब हम अभ्यासी, संयमी और सदाचारी बनें।

—जो प्राणी अनासक्त होकर कर्म करता है, वही सफलतायें पाकर परमपद को प्राप्त होता है यानी जीवन स्वार्थहीन होना ही उत्तम है।

—शरीर का अन्त निश्चित है। शरीर के अन्त होने पर आत्मा दूसरा शरीर बदल लेती है, यही जन्म-मरण जीवन का चक्र है।

—परम दुःख के तीन स्रोत हैं, जो प्राणियों का आत्म-हनन करते हैं। काम, क्रोध, लोभ यही अवनति के चिह्न हैं, इनसे सतर्क रहें।

—सहनशीलता, नम्रता, मौन, सङ्कल्प, आत्म-विश्वास ही मानव-जीवन को सार्थक करते हैं। 'मैं' कभी न कहो, इससे अहं टपकता है, हम 'कहो' इसमें नम्रता है, सब साथ है।

—प्रेषक श्री दयानन्दस्वरूप एडवोकेट

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

तैलों की श्रेष्ठता—

सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं प्रशस्यते ।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्डं तु विरेचने ॥

अर्थात्—सब तैलों में तिलों का तेल बल बढ़ाने और स्नेह कार्यों में उत्तम होता है और विरेचन के लिए एरण्ड (अण्डी) का तेल श्रेष्ठ है।

घृत के गुण—

घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम् ।
निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्ण प्रसादनम् ॥

अर्थात्—घी पित्त और वात को दूर करता है। रस, शुक्र (वीर्य) और ओज के लिए हितकर है। वह दाह को शान्त करता है शरीर को मृदु, कोमल बनाता है। स्वर तथा वर्ण को अधिक स्पष्ट तथा स्वच्छ करता है।

तैल के गुण—

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम् ।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥

अर्थात्—तैल वायु नाशक कफ को बढ़ने नहीं देता, बल को बढ़ाता है, त्वचा खाल के लिए बहुत लाभदायक है। उष्ण एवं शरीर को दृढ़ करता और स्त्री शरीर में योनि को शुद्ध करता है।

न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्र पुरीषयोः ।
न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥

अर्थात्—बुद्धिमान पुरुष मूत्र (पेशाब) पुरीष, (मल, पाखाना,) रेतस् (वीर्य) वात (अपान वायु, पाद), वमि (वमन, उलटी), क्षवथु (छींक) के वेगों को कभी नहीं रोकें।

नोद्गारस्य नजृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः।
न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥

अर्थात्—उद्गार (डकार), जृम्भा (जमाई, ओबासी), भूख और प्यास, आँसू, नींद और श्रमवा व्यायाम से उत्पन्न श्वास-प्रश्वास के वेगों को भी न रोके।

न कर्तुरिन्द्रियाभावात्कार्यज्ञानं प्रवर्तते ।
यैः क्रिया वर्तते या तु सा विना तैर्न वर्तते ॥
जानन्नपि मृदोऽभावात्कुम्भकृन्न प्रवर्तते ।
श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥
इन्द्रियाणि च संक्षिप्य मनः संगृह्य चञ्चलम् ।
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥
सर्वत्रा वहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते ॥

अर्थात्—कर्ता (आत्मा) के इन्द्रियाँ न होने से इन्द्रियों से उत्पन्न बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि जिन साधनों से जो क्रिया होती है, उन साधनों के अभाव में वही क्रिया नहीं हुआ करती। जैसे—कुम्भकार (कुम्हार) घड़ा बनाने की सब बातों को जानता हुआ भी यदि उसके पास मिट्टी न हो तो घड़ा बनाने में समर्थ नहीं होता।

और यह भी आत्मा के सम्बन्ध में आप लोगों को ध्यान से सुनना चाहिए कि आत्मा का ज्ञान कर लेने का सामर्थ्य बहुत बड़ा है, इन्द्रियों को अपने वश में करके और चंचल मन को कड़ा करके आत्मज्ञानी योगी पुरुष अपने भीतर आत्मा में प्रवेश करके वह अपने ज्ञान में स्थित रहता है, वह उस समय सब स्थानों में ज्ञान प्राप्त करता है और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है।

आत्म ज्ञानादृते नैकं ज्ञानं किंचिन्न वर्तते ।
न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥

अर्थात्—आत्म ज्ञान के बिना कोई ज्ञान नहीं होता। सिवाय आत्म ज्ञान के एक भी अन्य (बाह्य) ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि कोई पदार्थ या कर्म अकेले नहीं होता और बिना कारण के नहीं होता, वह अपने कारणों से ही उत्पन्न होता है।

तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च ।
सर्वमेतद्भरद्वाज निर्णीतं जहि संशयम् ॥

अर्थात्—इसलिए यह आत्मा "ज्ञ" (ज्ञानवान्) है, यह स्वतः प्रकृति है, विकृति नहीं है। स्वतः कारण है, कार्य नहीं है। वह आत्मा द्रष्टा है और देहादि कार्यों का कारण ही है। इस प्रकार हे भरद्वाज ! यह हमने सब प्रश्नों का निर्णय कर दिया है, अब तुम संशय मत करो।

—चरक संहिता

योग क्या है ?

❀ डा० श्रीमती राजरेखा

आधुनिक समाज में देश विदेशों में सर्वत्र योग का प्रचार किया जा रहा है, तथा अनेक साधक योगाभ्यास से लाभ प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु खेद का विषय है कि जन-साधारण में योग क्या है ? इस विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें फैली हैं। प्रायः लोगों का मन्तव्य है कि आसनों का अभ्यास, बन्ध व मुद्रा षट्कर्म (नेति धौति वस्ति कपाल-भाति त्राटक) व प्राणायाम का अभ्यास ही योग का दायरा है। जबकि वस्तुतः ये सब प्रारम्भिक साधनायें हैं तथा मानव को शारीरिक व मानसिक स्तर पर योगसाधना के योग्य बनाने में सहायता करती हैं।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक श्री सद्गुरु-देव के कृपापात्र शिष्यों को तो योगमार्ग की साधना व गुप्त रहस्य सर्वथा ज्ञात ही है। परन्तु आधुनिकता के पक्षपाती व आस्तिक आस्थावान् पाठक योग की वास्तविकता समझ सकें व इस दिशा में प्रेरित हो यही हमारा उद्देश्य है। यद्यपि योगमार्ग में स्त्री पुरुष बूढ़े जवान सभी साधना कर सकते हैं। परन्तु भ्रान्तिपूर्ण विचारधारा के कारण अनेक व्यक्तियों ने प्रश्न किया है, क्या हमारे जैसे बूढ़े योगाभ्यास कर सकते है। ऐसे जिज्ञासु भी योग की वास्तविकता समझ सकें व साधना द्वारा लाभान्वित हों, तो हमारा प्रयास सफल होगा।

योग क्या है—योग शब्द "युज" धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है मिलना, जुड़ना, एकाकार होना। दार्शनिक क्षेत्र में योग शब्द का अर्थ है अपनी सत्ता भुलाकर अपने ध्येय विषय में एकाकार हो जाना। इस प्रक्रिया में मन की एकाग्रता अत्यावश्यक है। मानव मन निरन्तर संकल्प विकल्प करता ही रहता है अतः किसी एक लक्ष्य पर मन ज्यादा देर एकाग्र नहीं रहता। गणेशजी का ध्यान करते-करते उनके हाथ में चित्रित लड्डू पर ही मन चला जाता है। अनेक लड्डुओं की कल्पना शुरू हो जाती है, तथा एकाग्रता में बाधा आ जाती है। इसी प्रकार सम्बन्धित विचार जंजीर की कड़ियों की तरह आते जाते हैं। अतः सर्व-प्रथम मन को एकाग्र बनाना ही योग का प्रारम्भिक कार्य है। भगवान पतञ्जलि ने कहा है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—अर्थात्-चित्त-वृत्तियों का रुक जाना, मन का पूरी तरह एकाग्र हो जाना, यही योग है। श्री पतंजलि-देव ने इस प्रक्रिया में आठ सोपानों को सहायक माना है।

(१) यम-साधना। यम पाँच हैं, अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का पालन।

(२) नियम-साधना। अर्थात्—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान की साधना।

(३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

इस मार्ग में प्रथम पाँच साधन बहिरङ्ग साधन हैं जिनके अभ्यास से राग-द्वेष काम-क्रोध से मलिन मन व अनेक रोगों से ग्रस्त

शरीर धारणा ध्यान व समाधि की साधना करने के लायक बनता है। धारणा की साधना में किसी लक्ष्य विशेष पर चित्त एकाग्र करने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि प्रारम्भ में मन एकाग्र नहीं होता तथा शीघ्र ही ध्येय विषय को छोड़कर अन्य विषयों में चला जाता है, परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा मन तेल की निरन्तर गिरती धारा के समान ध्येय विषय का ही चिन्तन अधिक एकाग्रता व प्रगाढ़ता से करता है। एकाग्रता की यह अवस्था ध्यान कहलाती है। इसी दिशा में अभ्यास बढ़ने पर मन की एकाग्रता ऐसी बढ़ जाती है कि साधक को अपनी सुध-बुध भी नहीं रहती तथा वह केवल ध्येय विषय का ही चिन्तन करता रहता है। यही समाधि है। इस समाधि अवस्था में भी एकाग्रता की डिग्री के हिसाब से अनेक सीढ़ियाँ हैं। सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यही निकलता है कि मन की एकाग्रता ही योग का मूल है।

योगाभ्यास द्वारा मन की एकाग्रता बढ़ती है। व्यर्थ संकल्प-विकल्पों को रोक कर मन की शक्ति बढ़ाई जा सकती है। एकाग्र मन से किया गया प्रत्येक कार्य आशातीत रूप से सफल होगा। विद्यार्थी यदि एकाग्र मन से अध्ययन करेगा तो निश्चित् ही अच्छे अङ्क लेकर पास होगा। वैज्ञानिक डाक्टर इन्जीनियर अध्यापक वकील जज, प्रोफेसर आदि बुद्धिजीवी वर्ग अपना कार्य तभी सफलतापूर्वक कर सकते हैं जब उनका मन एकाग्र हो। साधारण कार्य यथा-घर की झाड़, बुहारी, कपड़े धोना, प्रेस करना आदि भी मन लगाकर न किये जाने पर बिगड़ जाते हैं। ध्यान से मोटरगाड़ी न चलाने पर दुर्घटना में कितनी ही जानें चली जाती हैं। अतः मन की एकाग्रता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक है।

यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में योग को अत्यन्त आदर दिया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने योगी को तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी सभी से श्रेष्ठ कहा है तथा अर्जुन को योगी बनने का उपदेश देते हुए कहा—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
—गीता ६/४६

वैदिक युग से आज तक अनेक मनीषियों ने मानवता का उपकार किया है तथा योग प्रचार किया है।

योग की सार्वभौमिकता

योग एक ऐसी सार्वभौम साधना प्रणाली है, जहाँ व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार ध्येय विषय का चुनाव कर मन एकाग्र करने का प्रयत्न कर सकता है। हृदय प्रधान भावुक साधक अपने इष्टदेव श्री राम, कृष्ण, दुर्गा, गणेश आदि तथा सिक्ख साधक श्रीगुरुनानक देव अथवा अन्य किसी भी सन्त पर मन एकाग्र कर सकते हैं। इसी प्रकार मुस्लिम, ईसाई आदि अन्य मतावलम्बी भी अपनी

श्रद्धा के अनुसार ध्येय विषय का चुनाव कर सकते हैं। केवल आस्तिक बुद्धि-सम्पन्न ही नहीं, नास्तिक तथा अनीश्वरवादी व्यक्ति यदि किसी देवी-देवता के प्रति श्रद्धा न रखते हों तो भी वे अपनी आँखों द्वारा दीखने वाली वस्तुएँ यथा सूर्य, चन्द्रमा, तारे अथवा अपने ही शरीर में विद्यमान किसी भी अंग जैसे—नाक की नोंक, जीभ, जीभ का अगला भाग, हृदय, नाभि आदि पर मन एकाग्र करने की साधना कर सकते हैं। अपने अंगों की उपस्थिति पर तो प्रत्येक व्यक्ति को श्रद्धा व विश्वास सहज ही हो सकता है, चाहे देवता आदि पर हो या न हो।

विविध योग-साधनायें

इस प्रकार रुचि के अनुकूल ध्येय विषय के चुनाव की सुविधा योग-मार्ग को सरल व सरस बना देती है। भावुक भक्तगण अपने इष्टदेव में मन एकाग्र कर योगाभ्यास करते रहे हैं। इस प्रकार भक्तियोग का प्रादुर्भाव हुआ। रजोगुण प्रधान कर्त्तव्य-परायण व्यक्तियों के लिए मन की शान्ति व एकाग्रता अर्जित करने के लिये निष्काम कर्मयोग ही सर्वाधिक उपयुक्त है। अनासक्त भाव से कर्म करने पर, शुभ कर्मफल मिलने पर सुख तथा अशुभ कर्मफल मिलने पर दुःख नहीं होता तथा साधना-काल में मन की एकाग्रता बनी रहती है। बुद्धि-प्रधान साधक ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में सुध-बुध खो बैठते हैं। अतः ऐसे साधकों के लिए ज्ञान-योग-साधना चित्तवृत्ति निरोधरूप योगप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। इस प्रकार योग साधना मन का प्रशिक्षण है तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार योग मार्ग का चयन कर सकता है। मन की एकाग्रता के अनेक लौकिक व अलौकिक लाभ हैं जिनके कारण प्राचीनकाल में सभी जाने माने व्यक्ति ब्रह्मचारी गृहस्थी वानप्रस्थी संन्यासी, देवता ऋषि मुनि, यति, ध्यान साधना करते थे। महाभारत में एक स्थान पर कथा है कि एक बार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण से मिलने प्रातःकाल गये। उस समय भगवान् कृष्ण समाधि लगाये बैठे थे। कृष्ण को तो साक्षात् भगवान् कहा गया है—

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' भागवत—अतः भगवान् को भला ध्यान, समाधि की क्या आवश्यकता थी? सच्चाई तो यह है कि स्वयं समाधि लगाकर क्रियात्मक रूपसे आम जनता को साधना की ओर प्रेरित करने की विधि युग-प्रवर्तक श्रीकृष्ण ने अपनाई थी, क्योंकि कहावत है—'कथनी से करनी भली। वैसे भी जनता नेताओं का ही अनुकरण करती है।

महाजनः येन गतः सः पन्था।

अतः जन-साधारण भी ध्यान-समाधि करे, इसलिए प्रबुद्ध वर्ग को ध्यान साधना करना आवश्यक था। इस प्रकार योग-साधना प्राचीन काल से ही योग जीवन का आवश्यक अङ्ग बन गया था। कुछ लोग रुचि के अनुसार मन-पसन्द मन्त्र का श्रद्धापूर्वक जाप करके मन एकाग्र करने का प्रयास करते थे। इस प्रकार मन्त्र योग का प्रचलन हुआ। कुछ

साधकों ने शरीर के भीतर ही अनाहत नाद सुनने पर मन एकाग्र किया। इस प्रकार नाद-योग प्रचलित हुआ। लेख के प्रारम्भ में ही वर्णित अष्टाङ्गयोग, राजयोग के नाम से जाना जाता है। इसी आठ अङ्गों वाले योग में से यदि यम-नियम निकाल दें तो शेष छः अंगों (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का) अनुष्ठान हठयोग कहलाता है। महायोग, सिद्धयोग इत्यादि अनेक अन्य प्रकार की योग-विधायें भी प्रचलित हैं। विस्तारभय से उनका विवेचन यहाँ सम्भव नहीं।

राजयोग की प्रधानता है—इन सभी योग-मार्गों में राजयोग योग की एक सरल व स्पष्ट विधि है। यम, नियम, प्रत्याहार के अभ्यास से मन की शुद्धि तथा आसन, प्राणायाम के अभ्यास से नाड़ी शुद्धि (शरीर शुद्धि) होती है, जिससे शरीर तथा मन स्वस्थ व समाधि प्राप्ति के योग्य बनता है। मन की पवित्रता के अर्जन के कारण योग-सिद्धियों के मोह-पाश में फँसकर साधक योग-भ्रष्ट नहीं होता। अन्यथा "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया" अर्थात् तलवार की धार पर चलने के समान ही इस मार्ग में गति होती है। अहङ्कार तथा मान, सम्मान की इच्छा योग-सिद्धियों के चक्कर में फँसा कर पथ-भ्रष्ट कर देती है। इस कारण राजयोग की साधना ही परम श्रेयस्कर है।

यद्यपि अनेक योग-विषयक ग्रन्थों में योग-साधना पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा मन की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए अनेक उपायों का वर्णन भी पाया जाता है, तथापि विज्ञ-पाठकों, जिज्ञासुओं तथा साधकों से करबद्ध अनुरोध है कि इस दिशा में सिद्ध गुरुदेव की कृपा रूपी छत्रछाया में ही इस साधना का सूत्रपात करना श्रेयस्कर व विघ्न रहित होता है। ●●

—० मानव जीवन की श्रेष्ठता ०—

उस जीवन से मरण श्रेष्ठ है, जिसमें प्रभु का ध्यान नहीं,
हेय वही जीवन होता है, जिसमें यश सम्मान नहीं।
जीवन श्रेष्ठ नहीं वह होता, धर्म कर्म का ज्ञान नहीं,
उस जीवन से मरण श्रेष्ठ है, जिसमें वेद विधान नहीं।
जीवन श्रेष्ठ नहीं वह होता, जिसमें नित उत्थान नहीं,
उस जीवन से मरण श्रेष्ठ है, वपु जिसका बलवान नहीं।
कण कण में प्रभु विद्यमान है, अज्ञ मनुज को ज्ञान नहीं,
उस जीवन से मरण श्रेष्ठ है, कर्म दण्ड भगवान नहीं।
उन्नतितर जीवन नहीं होता, यदि तपो त्याग बलिदान नहीं,
उस जीवन से मरण श्रेष्ठ है, उर में शिव स्थान नहीं।
हेय वही जीवन होता है, जिसमें यश सम्मान नहीं,
उस जीवन से मरण श्रेष्ठ है, ओ३म् मन्त्र गुणगान नहीं।

— श्री आचार्य पं० शिवकुमार वैद्य शास्त्री

घटना-क्रम से सम्बन्धित बालक भगवान श्री राम की जन्मभूमि अयोध्या में निवास कर रहा था। अपने अयोध्या निवास-काल में उसने वैष्णव मत का सहारा लेकर घोरतम तप किया। नियमसे की गई लगातार साधना के फलस्वरूप उसके मन में वैराग्य भाव का उदय हो गया एवं उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब वह अपने इसी शरीर से सिद्धाश्रम में प्रवेश करेगा। अपने इस मनोरथ की पूर्ति के लिए कि मैं सिद्धाश्रम निवास करूँ। उसने उत्तराखण्ड की आध्यात्मिक

श्री प्रभु-चरित्र—

वैष्णव-भक्त पर कृपा

※ श्री केशव उपाध्याय

यात्रा आरम्भ की। इसी तीर्थ-यात्रा के तारतम्य में वह साधक श्री महाप्रभुजी के नेपाल-धाम स्थित मुक्ति-धाम तक पहुंच गया। मुक्ति-धाम के पास अपना निवास-स्थान बना कर उसने घोर तप एवं स्वाध्याय करना आरम्भ किया। उसने भोजनका त्याग अपनी इस प्रतिज्ञा के साथ कर दिया कि जब तक हमें सिद्धाश्रम का ठीक-ठीक पता नहीं मिल जायेगा, तब तक हम भोजन ग्रहण नहीं करेंगे। बिना भोजन ग्रहण किये घोर तप एवं स्वाध्याय किया। उसकी ऐसी दृढ़ लगन, श्रद्धा एवं आध्यात्मिक साधना से प्रसन्न होकर एक योगीराज उसके सामने प्रकट हुए। ऐसे वीरान स्थान में अपने सामने एक तेजस्वी व्यक्ति को देखकर उसने मन ही मन प्रणाम किया। योगिराजजी ने बिना उसके कुछ प्रार्थना किये उपदेश पूर्ण वाणी से बोले—"तुम यहाँ सिद्धाश्रम में प्रवेश पाने की नियत से तप एवं स्वाध्याय कर रहे हो।" साधक को कुछ प्रसन्नता का अनुभव हुआ एवं उसने निवेदन किया कि हाँ, महाराज! मेरी यहाँ साधना करने का एकमात्र प्रयोजन सिद्धाश्रम में प्रवेश पाने की इच्छा ही है। वैष्णव-भक्त की प्रार्थना सुनने के बाद योगीराजजी ने आगे कहा कि यदि ऐसी बात है तो तुम हमारी बातों को मन एकाग्र करके सुनो।

जिसपर उनकी अनुकंपा होती है वही निहाल होती है-परम योग-योगेश्वर, सिद्धेश्वर श्रीरामलालजी की आज्ञा एवं कृपाके बिना कोई भी साधक सिद्धाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता। सिद्धेश्वर श्री रामलालजी महाराज का नाम उस वैष्णव-भक्त साधक ने अपनी जिन्दगी में पहली बार ही सुना था। अतः उसने योगीराज जी से प्रार्थना की कि महाराज! ये सिद्धेश्वर श्री रामलालजी महाराज कौन हैं एवं इनके दर्शन हम कहाँ प्राप्त कर सकते हैं? उसकी ऐसी आतुरता एवं प्रार्थना से द्रवीभूत होकर योगिराज जी ने बतलाना आरम्भ किया कि सिद्धोंके ईश्वर तथा सिद्धाश्रम के एकमात्र स्वामी का नाम श्रीरामलाल जी महाराज हैं। वे योगियों के भी ईश्वर तथा परम योग-योगेश्वर हैं। आगे उपदेशित करते हुए योगिराजजी ने बतलाया कि उनके दर्शन के लिये तुम्हें उनके निवास स्थान पर जाना चाहिये, परन्तु तुम अपने इस शरीर से उनके निवास-स्थान पर नहीं पहुंच सकते। वैष्णव-भक्त साधक योगिराज जी का यह

उपदेश सुनकर उदास एवं निराश हो गया। उसके मनोभावों को देखकर योगिराजजी ने सान्त्वना देते हुए कहा कि उदास या निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हम एक युक्ति बतलाते हैं, तुम वैसा ही पालन करो। वे करुणानिधान हैं, अवश्य ही द्रवीभूत होकर कृपा कर देंगे। योगीराजजी ने युक्ति बतलाते हुए उपदेशित किया कि यहाँ से आठ किलो मीटर ऊपर आगे नदी के बिल्कुल किनारे एक बड़ा विशालकाय वृक्ष है। उस वृक्ष में एक खोखला स्थान है, जिसमें गुफा सी बन गयी है। यदा-कदा सिद्धेश्वर श्रीरामलालजी महाराज उस स्थान पर जाया करते हैं और उसी गुफा में बैठते हैं। तुम उसी स्थान पर चले जाओ एवं उसी के पास अपना निवास बनाकर अपनी तपस्या और स्वाध्याय करते रहो। वे दयानिधान हैं, उस करुणासागर को दया आ ही जावेगी और तुम्हें उनका दर्शन लाभ हो जावेगा। इतना वैष्णव भक्त को उपदेशित करने के बाद वे योगिराज उसके सामने से अन्तर्ध्यान हो गये।

योगिराजजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह वैष्णव भक्त साधक वहाँ से चलकर तत्काल उस स्थान पर पहुँच गया, जहाँ श्री सिद्धेश्वरजी महाराज यदा-कदा पधारा करते थे। उस वृक्ष के करीब ही नदी के किनारे निवास करते हुए उसने इस आशय से तपश्चर्या एवं साधना आरम्भ की कि या तो सिद्धेश्वर प्रभु का दर्शन करूँगा या यहीं शरीर त्याग करूँगा। वैष्णव भक्त साधक ने अत्यधिक लगन एवं श्रद्धा से घोर तपश्चर्या करना आरम्भ किया। आखिर करुणासागर को दया आ ही गयी। एक दिन उस वैष्णव भक्त पर कृपा करने नदी के किनारे स्थित वृक्ष की गुफा में पधारे। वैष्णव भक्त साधक, जो करीब में ही तपश्चर्या कर रहा था; उनके तेजोमय शरीर एवं दिव्य प्रकाश को देखकर सहज ही पहचान गया कि सिद्धाश्रम के कर्त्ता-धर्त्ता सिद्धेश्वर श्री रामलालजी महाराज यही हैं। उसने उठकर श्री चरणों में प्रणाम करना चाहा। श्री महाप्रभुजी ने आज्ञा दी कि तुम दूर से ही प्रणाम कर लो। अभी तुम मेरे चरणों को स्पर्श मत करो। उस वैष्णव भक्त साधक ने दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया। उसके प्रणाम कर लेने के बाद श्रीमुख ने उपदेशित किया कि अभी तुम्हारा शरीर इस योग्य नहीं बन पाया है कि तुम सिद्धाश्रम में प्रवेश कर सको। यदि तुम सिद्धाश्रम के अन्दर प्रवेश पाने की दृढ़ इच्छा रखते हो तो ऋषिकेश चले जाओ। वहाँ गङ्गा के किनारे झोंपड़ी लगाकर अमुक प्रकार से अपनी आध्यात्मिक साधना करते रहो।

सिद्धेश्वर श्री रामलालजी महाराज ने अपने उस बालक से कुछ गुप्त बातें भी बतलायीं। इस साधक बालक ने प्रणाम करके प्रार्थना की कि प्रभो! कब तक कृपा होगी। उसकी ऐसी प्रार्थना सुनकर महाराज श्री सिद्धेश्वर जी ने मुस्कराते हुए आज्ञा प्रदान

की कि बेटा! धैर्य रखो। अपनी आध्यात्मिक प्रगति जारी रखो। बेटे! घबराने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तुम स्वाध्याय करते रहो, जब तुम्हारा शरीर इस योग्य बन जायेगा कि तुम सिद्धाश्रम में निवास कर सको तो हम खुद तुम्हें सिद्धाश्रम में बुला लेंगे। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर वह साधक उस स्थान से चल पड़ा एवं ऋषिकेश आ गया। ऋषिकेश में गङ्गा के किनारे, झाड़ियों के करीब ही, इस साधक ने एक झोंपड़ी लगाकर श्री महाप्रभुजी के स्वरूप के सहारे अपनी आध्यात्मिक तपश्चर्या आरम्भ कर दी है। लेखक ने भी अपने कुछ गुरु-भाइयों के साथ श्री महाप्रभुजी के इस कृपा-पात्र बालक का दर्शन लाभ लिया है। मन्त्र-जाप एवं ध्यान इस साधक के जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं।

प्रभु का वह कृपा-पात्र बालक जो कुछ वर्ष पूर्व तक वैष्णव पथ का पथिक था, अब अकारण दयालु परम योग-योगेश्वर, सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज की करुणा कृपा से अब योग मार्ग का योग्य साधक या यों कहा जाय कि योगी बन गया है। अपनी तपश्चर्या एवं स्वाध्याय के बल पर इस योग्य साधक ने श्री महाप्रभुजी के दिव्य स्थूल शरीर का दर्शन लाभ किया है। आज से लगभग तीन वर्ष पूर्व इस बालक ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर योग-साधन आश्रम ऋषिकेश जाकर, हमारे, आपके, और प्राणी मात्र के भाग्य विधाता आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान् के युगल चरणों में साष्टांग प्रणाम किया था। उन अकारण दयालु सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज की कृपा लीलाओं का अन्त कहाँ? उनकी कृपाओं का प्रवाह अनवरत अबाधगति से चल रहा है। दूसरे सम्प्रदाय के लोगों पर भी, जिनको आध्यात्मिक या सांसारिक सहायता की आवश्यकता है, वे कल्याणमय श्री महाप्रभुजी सदैव कृपा करते ही रहते हैं।

— ❁ विवेक–ख्याति ❁ —

भूत भविष्यत्-वर्तमान को जान लेने को सामर्थ्यवान, उन पदार्थों को विद्यमानवत् प्रत्यक्ष कर लेने वाला जिसमें यथार्थ-बोध की शक्ति भी अब आगई है, वह 'मन' इस समय आत्मा का प्रतिच्छाया-रूप बना मोक्ष तक का साक्षी-मात्र रह गया है। अब जीवात्मा पंचज्ञानेन्द्रिय तथा मन-बुद्धि सहित सदा होता 'आत्म-यज्ञ' कर रहा है। मन बुद्धि यद्यपि इस समय विकल्प-संकल्प से आपूर्ण है किन्तु शुभाशुभ संस्कार वैसे ही बने हैं—दग्ध बीज नहीं हुए हैं। उन्हें दग्ध बीज बना लेने के लिए जीवात्मा अब "आत्म दर्शन-यज्ञ" में इन पाँच इन्द्रियप्राण-मन-बुद्धि तथा इनके स[illegible] विषयों को-द्रव्यों को डाल-डाल कर भस्म करता जा रहा है—इन की उच्छृङ्खलता को आत्मवशी बनाता जा रहा है। इस यज्ञ को योगदर्शन "विवेक-ख्याति" व 'प्रसंख्यान' की संज्ञा देता है।

आध्यात्मिक चर्चा—

卐 कुछ कर 卐

❀ श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का यह जीवात्मा अंश है। यह आनन्द से उत्पन्न हुआ है तथा आनन्द में ही रहना चाहता है, परन्तु भवाटवी में आकर यह पथ-भ्रमित हो गया है। जिससे गन्तव्य-मार्ग को भूल गया है। यह शरीर जो अनित्य है, क्षणभंगुर है, इसको शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि विषयों से सुखी करना चाहता है, परन्तु इसमें वास्तविक सुख न पाकर यह श्रमित होकर विश्रान्ति चाहता है। इस विश्रांति काल में वह प्रभु-शरणापन्न बनना चाहता है, किन्तु ऐसा सहज अभ्यास न होने से वह मात्र थोड़ी देर ही वहाँ अर्थात् प्रभुके स्वरूप पर टिक पाता है। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ बाहर रमण करती हैं, जिससे उसे सुख नहीं मिलता है।

'सिद्धयोग' में लगे साधक तथा जो सहज सात्विक प्रवृत्ति के लोग हैं, जो शास्त्र एवं ऋषियों के आप्त-वाक्य में विश्वास करते हैं, ऐसे लोगों की वृत्तियाँ प्रभु-कृपा से किञ्चित् मात्रा अन्तर्मुखी होती हैं। ये लोग आध्यात्मिक एवं भौतिक कार्यों को करते हुए जब अधिक श्रमित हो जाते हैं, तो श्रम से राहत पाने के लिये प्रभु के शरणापन्न होने पर काल विशेष के अनुसार प्रभु-कृपा से वह श्रम दूर हो जाता है। कभी-कभी बहिर्मुखी प्रवृत्ति वालों (अर्थात् खाओ, पीओ, मौज करो) के श्रम का निस्तारण भी उनके किसी पूर्व-जन्म के शुभ संस्कार जो उस कालमें उद्दीप्त होकर रक्षा कर देते हैं। ऐसे भौतिकवादी लोगों की उस काल विशेष में रक्षा हो जाने से ईश्वरीय सत्ता का थोड़ा आभास करते हैं, परन्तु बहिर्मुखी वृत्ति होने से मनमें अहंकार और शंका बनी रहती है कि यह मेरे अमुक प्रकार से कार्य करना सिद्ध हुआ है, ऐसी प्रवृत्ति साधन के न होने से होती है।

योग के आठ अङ्गों में जो पांच बहिरंग हैं, इन बहिरंगों के कुछ उपांग हैं। जैसे यम के उपांगों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि। इसी प्रकार अन्य अङ्गों के भी उपाङ्ग का वर्णन पातञ्जलि योग सूत्रकार ने किया है। इन अङ्गों के किसी एक विशेष को जीवन का अध्यवसाय बना लिया जाय तो वही अङ्ग कल्याण का भागी बना देता है।

यद्यपि सिद्धयोग के साधक जो प्रभु शरणापन्न हैं, उनका योग प्रभु-कृपा से धारणा, ध्यान से शुरू होता है। इसमें सद्गुरुदेव शक्तिपात द्वारा साधक के मन को पुष्ट करने के लिए कुछ यथायोग्य अनुभव करा देते हैं, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं कि साधक बहिरङ्गोंको छोड़ दे, क्योंकि शक्तिपात तो गुरुदेव की प्रसन्नता का कारण है, परन्तु साधक के लिए साधन करने में इसकी अपरिहार्यता है। इससे ही सद्गुरुदेव द्वारा दिया गया बीज अच्छी तरह पनपकर पूर्ण विकासको प्राप्त करता है। बहिरङ्ग साधनों में साधक यदि अहिंसा व्रत के पालन का संकल्प लेता है। इसी अहिंसा व्रत के कारण और भी चंचल वृत्तियाँ स्वा-

भाविक दब जाती है। ऐसे काम में साधक को थोड़ा सचेष्ट रहने की आवश्यकता होती है। सचेष्ट इस अर्थों में कि वह यह समझे कि हम प्रभु-कृपा से सत्य पथ पर चल रहे हैं: इसमें प्रमाद न आने पावे। इस प्रकार यम का पालन करने वाला हर प्रकार कल्याण का भागी बन जाता है। भगवान् पतञ्जलि ने यमों की उसी अवस्था को बताते हुए कहा है कि—

जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

अर्थात् जाति, काल और निमित्त की सीमासे रहित सार्वभौम होने पर वह महाव्रत हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि उक्त अहिंसा का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् जैसे किसी ने नियम बनाया कि मछली के सिवा अन्य जीवों की हिंसा नहीं करूँगा, तो यह जाति-अवच्छिन्न अहिंसा है। यदि कोई नियम ले कि मैं तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, तो यह देश अविच्छिन्न अहिंसा है। कोई यह नियम ले कि मैं एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा को हिंसा नहीं करूँगा तो यह काल अवच्छिन्न अहिंसा है। इसी प्रकार किसी समय विशेष पर जो हिंसा की जाती है, वह समया-वच्छिन्न हिंसा कहलाती है। इसी प्रकार साधक सूत्र के अनुसार, यदि प्रतिबन्ध न लगाकर जब सभी प्राणियों के साथ देश एवं काल में सदा-सर्वदा इनका पालन करता है, किसी भी निमित्त से इसमें शिथिलता नहीं आने देता है, तब यह महाव्रत कहलाता है अन्यथा नहीं।

हिंसा भी मृदु, मध्य एवं अधिमात्र रूप में होती है। मृदु हिंसा वह है जो बदले में की जाती है। जैसे—मच्छर ने शरीर पर बैठकर काटा, इससे जो पीड़ा हुई, उसके बदले में आपने उसको मार दिया। मध्य वह है जो किसी दूसरे से कराई जाय। यद्यपि निमित्त तो वही व्यक्ति है जो करा रहा है। लेकिन वह न मार करके दूसरे से कार्य करवा रहा है। मांस बेचने तथा खाने वाले दोनों इस कोटि में आ सकते हैं, क्योंकि एक कारण बन रहा है दूसरा कार्य कर रहा है। अधि-मात्र हिंसा वह है जो लोभ, मोह, काम, एवं क्रोध से की जाती है। इसलिए पूर्ण अहिंसा वृत्ति वह है जो लोभ, मोह, काम, क्रोध के वशीभूत होकर हिंसा न करे तथा दूसरे से करावें। पाठकों के मन में मृदु अहिंसा के बारे में प्रश्न उठ सकता है कि यदि हमें मच्छर काट रहा है। तो क्यों न हम उससे बदला लें या इसी प्रकार अन्य हिंसा की वृत्तियों में भावना बन सकती है। इसीलिए दया का भाव है अर्थात्—आप मच्छर को उड़ा दीजिये या अन्य किसी वस्तु का सहारा लें। भगवान पतञ्जलि ने सूत्रवत निरूपण किया है कि—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥२/३३॥

अर्थात्—हिंसा की वृत्ति आने पर प्रति-पक्ष की भावना करनी चाहिए। प्रतिपक्ष की भावना का अर्थ कि साधक को बार-बार उन विचारों में दोष दर्शन की भावना को सोचना चाहिए। क्योंकि साधक साधना के

विकास के क्रम को पूरा करते हुए उच्चतर स्थितियों में प्रवेश कर रहा है। साधक के उच्चतर स्थितियों में प्रवेश करने पर जो उसके कर्म संस्कार हैं; वह धीरे-धीरे दग्ध होते रहते हैं। इसलिये योग-साधन में बढ़े हुए साधक को सावधान रहना चाहिए। अन्तरंग साधनों के साथ बहिरङ्ग साधनों को पुष्ट करना चाहिए अन्यथा साधनके विकास-क्रम में व्यवधान आ जाता है। दो कथाओं द्वारा इनकी पुष्टि की जा रही है।

कौशिक नाम के एक ब्राह्मण थे। वे बड़े ही धर्मात्मा और तपस्वी थे। उन्होंने अङ्गों सहित वेद और उपनिषदों का अध्ययन किया था। एक दिन वे एक वृक्ष के नीचे बैठकर वेद-पाठ कर रहे थे। उसी समय वृक्ष पर एक बगुली बैठी और उसने बीट की, जो ब्राह्मणदेव के ऊपर गिरी। उस पक्षी को क्या मालूम कि बीट कहाँ गिर रहा है। इस पर ब्राह्मणदेव ने क्रोध से तमतमा कर बगुली के अनिष्ट का चिन्तन करते हुए उसकी ओर देखा। बेचारी बगुली पेड़ से गिर पड़ी और मर गई। इतने बड़े तपस्वी ब्राह्मण, जिसके सोच मात्र दृष्टिपात से एक जीव की हत्या हो गई। इससे पता लगता है कि जरूर ब्राह्मण में कोई कमी अवश्य रही, जिसके कारण ऐसी वृत्ति उठी अन्यथा दया-भाव ही उठा होता। उच्च स्थिति में आकर भी व्यक्ति सावधान न रहने पर पतन का भागी हो सकता है।

इसके विपरीत दयाभाव का दूसरा उदाहरण एकनाथजी महाराज का है। वे परम शान्त महात्मा थे। किसी प्रकार का विकार चित्त में नहीं था। एक दिन कुछ ब्राह्मण इनके क्रोध को बढ़ाने के लिये या अनिष्ट के उद्देश्य से एक निकृष्ट कार्य को एक यवन से करवाने की युक्ति सोची। एकनाथजी महाराज एक दिन जब गंगा-स्नान से वापिस अपने आश्रम को जा रहे थे, तो इनके ऊपर एक यवन ने छिपकर थूक दिया। महात्मा बिना उद्वेग के स्नान करके पुनः लौटकर जा रहे थे कि पुनः उसी स्थान पर उस यवन ने थूका। इसी प्रकार उसने एकनाथ जी पर एक-सौ-एक बार थूका। परन्तु वे महात्मा हर बार गङ्गा जी में स्नान करके शुद्ध हो लेते थे। अन्त में ब्राह्मण सहित यवन इनके चरणों में गिरकर क्षमा-प्रार्थना करने लगे। एकनाथ जी ने उनको क्षमाकर कल्याण-प्रद मार्ग का उपदेश देकर विदा किया। उनसे यह भी बोले—"भद्र आप लोगों के कारण आज हमें एक-सौ एक बार गङ्गा में स्नान करने का अवसर प्राप्त हुवा।' यह पूर्ण रूप से साधन सम्पन्न महापुरुषों की स्थिति का रूप है।

भगवान पतञ्जलि अहिंसा की पराकाष्ठा का फल बताते हुए कहते हैं कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैर-त्यागः।

—योग-दर्शन २/३५

अर्थात् अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणिमात्र वैर

त्याग देते हैं। प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनियों के आश्रमों में विभिन्न प्रकार के भयंकर पशु, पक्षी घूमते-विचरते थे, वह सब अहिंसा का ही प्रतिफल था। परन्तु आज कलिकाल के विकट समय में इतना सम्भव हो पाना कठिन है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और समय युग-विशेष के प्रभाव से बोझिल होता है। फिर भी कल्याण के पथ को प्राप्त कर व्यक्ति, वाणी एवं शरीर से अहिंसक हो सकता है।

'सिद्धयोग' के पाठक निश्चय ही कल्पतरु सिद्ध सद्गुरु तथा योग को प्राप्त हुए हैं। इसलिये कुछ-करके कल्याण के भागी बन सकते हैं। आचार्य शंकर ने 'विवेक-चूड़ामणि' में लिखा है कि—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं,
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपार दर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः,
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

अर्थात् किसी प्रकार इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर और उसमें भी, जिसमें श्रुति के सिद्धान्त का ज्ञान होता है। ऐसा पुरुषत्व पाकर जो मूढ़-बुद्धि अपने आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है। वह असत् में आस्था रखने के कारण अपने को नष्ट करता है।

गीता में भगवान् ने कहा है कि—

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा।
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

योगी का स्थान सबसे ऊँचा है। इसलिए कुछ-करके उस परम-पद को प्राप्त कर जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है, अन्यथा निम्न गति रहेगी। जैसा कि दोहे से स्पष्ट होता है—

पड़े रहे भव-कूप में,
सहे विपत्ति और लात।

—❀ आत्मा की पहचान ❀—

मैंने अनुभव किया है कि हर इन्सान की जिंदगी उस परम पावनी विराट जिंदगी का प्रवेशद्वार है, जहाँ हमारे समस्त संतापों, अभावों और विकृतियों का अंत है। इस देह के द्वार पर खड़े हो कर मैंने स्वयं इस विराट जीवन को देखा है। मेरी सबसे प्रिय कामना यही है कि मेरे ही आत्मरूप जगत के ये कोटि-कोटि जीव भी अपनी देह में झांकें और आनंद, सौंदर्य, माधुर्य एवं अमरता के इस लोक के दर्शन करें। —मार्टिन लूथर किंग

तुम प्रायः कहते हो, "मैं सुपात्र को ही दान दूंगा।" पर तुम्हारी वाटिका के वृक्ष ऐसा नहीं कहते- वे देते हैं, ताकि जी सकें, क्योंकि संग्रह करना ही मृत्यु है। अवश्य ही, जो दिवस और रात्रियों का दान पाने का अधिकारी है, वह तुम से शेष सब कुछ पाने का हकदार है।

—खलील जिब्रान

प्राणायाम, उसके लक्षण और गुण

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ॥

नित्य सात्त्विक बुद्धि द्वारा प्राणायाम करता रहे, जिससे कि सुषुम्ना नाड़ी के सारे मल शुद्ध हो जायें । ईश्वर का प्रणिधान, उत्साह, साहस, आदि प्रयत्नों से विक्षेप, आलस्य आदि रजोगुण वाले और तमोगुण वाले धर्मों को नष्ट करके प्रकाशमान और प्रसन्न बुद्धि को सात्त्विक बुद्धि कहते हैं ।

मल को शुद्ध करने वाले प्राणायाम का प्रकार दो श्लोकों से बतलाते हैं ।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥

पद्मासन बांधने वाला योगी प्राणवायु को चन्द्र-नाड़ी द्वारा पूर्ण करे और यथाशक्ति धारण करके फिर सूर्य-नाड़ी अर्थात् पिंगला-नाड़ी द्वारा निकाल देवे । बाहर की वायु को प्रयत्न विशेष से भीतर ग्रहण करने का नाम पूरक है और जालन्धर आदि बन्धपूर्वक प्राण-वायु के रोकने को कुम्भक कहते हैं । उस रुके हुए वायुको प्रयत्न विशेष से बाहर निकालने का नाम रेचक है । प्राणायाम के अंतर्भूत रेचक-पूरकों के ये लक्षण बतलाये हैं और लुहार की धौंकनी के समान साधारण रीति से आने-जाने वाली वायु के नहीं हैं ।

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥

पिंगला नाम की सूर्य-नाड़ी से प्राण को खींचकर धीरे-धीरे पेट को खूब भर लेवें, विधिपूर्वक कुम्भक करके यानी रोककर फिर इड़ा, जो चन्द्र-नाड़ी है उससे निकाल दें ।

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥

जिस इड़ा नाड़ी द्वारा रेचन किया है उसी नाड़ी से फिर पीकर अतिरोध से वायु को धारण करें, फिर उससे भिन्न यानी पिंगला द्वारा धीरे-धीरे रेचन करें, वेग से रेचन न करें । जब तक शरीर में पसीना भर जाय और सारा शरीर कांपने न लग जाय, तब तक प्राण वायु रोकने को शास्त्रकारों ने अतिरोध बतलाया है ।

—हठयोग प्रदीपिका से साभार

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 July. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

....

....

....

अध्यात्म के स्रोत

अर्वाचीन दशकों ने वैज्ञानिक ज्ञान में अद्भुत उन्नति और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, जो मानव-समाज के लिए अतिशय लाभदायी सिद्ध हुई हैं : जैसे—शीघ्रगामी यातायात के साधन, अच्छा स्वास्थ्य, भौतिक आवश्यकताओं की आसानी से पूर्ति, जीवन के उच्च ध्येयों की प्राप्ति के लिए अधिक अवकाश आदि। साथ ही साथ विज्ञान और तकनीकी ज्ञान से उत्पन्न शक्ति के सदुपयोग या दुरुपयोग की समस्या ने भयङ्कर रूप ले लिया है। इतिहास में पहली बार मानवता के समक्ष अणु-युद्ध द्वारा उसके पूर्ण विनाश की सम्भावना सामने आई है। मनुष्य की इस अवस्था का कारण उसके आन्तरिक विकास की उपेक्षा है, जिससे वह अपने मनोवेगों का दास बन गया है।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, सवाई कलाँ ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८